वर्ष १ अंक ११
विक्रम संवत् २०७६ श्रावण
अगस्त २०१९

आर्ष क्रान्ति

वैदिक समाज व्यवस्था के लिए समर्पित

आर्य लेखक परिषद्

ओ३म्

आर्य लेखक परिषद् का मुख पत्र

आर्ष क्रान्ति

अगस्त २०१९

वर्ष–१ अंक–११,
विक्रम संवत् २०७५
दयानन्दाब्द– १९५
कलि संवत् – ५११६
सृष्टि संवत् –१,९६,०८,५३,११६

प्रधान सम्पादक
वेदप्रिय शास्त्री
(७९९५७९५११३)

❖

समन्वय सम्पादक
अखिलेश आर्येन्दु
(८१७८७१०३३४)

❖

सह सम्पादक
प्रांशु आर्य (कोटा)
(९९९३९७०९४०)

❖

आकल्पन
प्रवीण कुमार (महाराष्ट्र)

❖

सम्पादकीय कार्यालय
ए–११,त्यागी विहार, नांगलोई,
दिल्ली–११००४१
चलभाष– ८१७८७१०३३४

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
१ स्वतंत्रता का अर्थ (सम्पादकीय)	०३
२ भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यताएं......	०५
३ Vaishyas : Feeders of Society	०८
४ ओम् की उपासना का साधन एवं समय	१०
५ वेदभाष्यकरणाधिकारानधिकार समीक्षा.....	११
६ जाति–जन्म से या कर्म से.....	१७
७ ऋषि तर्पण	२४
८ जग का है कोई निर्माता	२५

ईमेल – aryalekhakparishad@gmail.com
वेबसाइट – https://aryalekhakparishad.com/
फेसबुक – आर्य लेखक परिषद्

Digital

सम्पादकीय

स्वतंत्रता का अर्थ

पन्द्रह अगस्त 1947 से पहले देश परतंत्र था, देशवासी गुलाम थे। जैसे पशु बन्दीगृह में अनेक प्रजाति के पशु बंद रहते हैं, इसी प्रकार इस भारत देश में अनेक प्रजाति के लोग विदेशियों के नियंत्रण में बंदी थे। भारत देश अनेक छोटे–बड़े राज्यों में विभक्त था। कुछ राजा कहलाने वाले लोग अपने – अपने ढंग से लोगों पर शासन करते थे। अंग्रेजों के आने से पहले भी देशवासी मुस्लिम शासकों और राजाओं के गुलाम थे। प्रजा में राजनीतिक समझ नहीं थी, लगभग अशिक्षित थी। राजे, बादशाह, नवाब आदि परस्पर एक दूसरे का राज्य छीनने के लिए युद्ध करते रहते थे। उनके राज्य की सीमा तक ही उनका देश या राष्ट्र होता था। जो राजा बलपूर्वक, दूसरे राजा को पराजित करके राज्य छीन लेता था, प्रजा उसे ही अपना राजा मान लेती थी। किसी प्रकार का विद्रोह या असहमति प्रदर्शित नहीं करती थी। शासक लोग प्रजा को प्रताड़ित करते थे और उसका स्वत्वहरण करके स्वयं विलासिता, ऐय्याशी का जीवन जीते थे। अन्याय और अत्याचार चरम पर था।

मनु ने राजा की आवश्यकता बताने के लिए लिखा था कि –

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थं अस्य सर्वस्य राजानं असृजत् प्रभुः।।

अर्थात् अराजक लोक में सर्वत्र भय छाया रहता है। अतः इसकी रक्षा के लिए राजा का पद सृजित हुआ था।

अन्यत्र कहा गया है कि –

कृपण अनाथ वृद्धानां यदश्रुपरिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञाम् धर्म उच्यते।।
महाभारत शांतिपर्व अ० 7।।

जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को मारकर खा लेती है और जैसे सिंह आदि हिंसक प्राणी अपने से निर्बल प्राणियों को मार ड़ालते हैं यह प्रवृत्ति मनुष्यों में न पनपे इसके लिए राजा की आवश्यकता होती है। जो प्रजा को न्याय दे, उसके स्वत्व की रक्षा करे ताकि कोई दुष्टजन बल या छल से उसके सुख भाग का हरण न कर सके, वही वास्तविक राजा होता है। राजा के अभाव में अराजकता उत्पन्न होकर स्वाधीनता समाप्त हो जाती है। सर्वत्र भय व्याप्त हो जाता है। यही इस भारत देश के साथ हुआ। राजा सचमुच के राजा न रहे, राजधर्म का पालन न कर सकने के कारण ही प्रजा गुलाम हो गई, सर्वत्र हाहाकार और त्राहि–त्राहि मच गई। राजधर्म छोड़ देने पर शासक –प्रशासक श्वानवृत्ति वाले हो जाते हैं। अर्थात् अपने से सबल से डरना, दुम हिलाना, खीसें निपोरना और निर्बल को दबोच कर प्रताड़ित करना और स्वत्व हरण कर लेना। धीरे–धीरे यही वृत्ति सम्पूर्ण प्रजा में पनप जाती है। तब लोग टुकड़खोर होकर टुकड़े डालने वालों के वफादार हो जाते हैं। पराधीनता, गुलामी का यही कारण है। यह श्वान् वृत्ति हिंदुओं में बड़ी प्रबल हो रही है इसीलिए यह लोग आज भी गुलाम ही हैं, सचमुच स्वतंत्र नहीं हैंय ऐसे में स्वतंत्रता दिवस मनाने का कोई अर्थ नहीं है।

पापी हड़पकर धन चैन यहाँ पा रहे।
और बलवान निर्बलों को हैं सता रहे।।

जहाँ लोग निर्धन, बेरोजगार, भुखमरी और कुपोषण के शिकार, बाहुबलियों से प्रताड़ित, बहन–बेटियों की अस्मत–इज्जत लुटते देखने को विवश, शिक्षा–चिकित्सा, न्याय से वंचित, अपमानित जीवन जीने को विवश हों, वहाँ स्वतंत्रता और उसके दिवस की कुछ भी सार्थकता नहीं, ये सभी इनके साथ एक मजाक भर है।

कुत्तों की आदतों में से दो–तीन की चर्चा विशेष रूप से होती है। एक किसी भी ऊंचे स्थान पर टांग उठा कर मूत्र विसर्जन कर देना, दूसरी उल्टी करके पुनः चाट जाना और तीसरी भौंकना। मनुष्यों में इन आदतों को कोई भी साफ–साफ देख सकता है। किसी भी महापुरुष की मूर्ति तोड़ देना, जूतों की माला पहनाना, पुतला फूंकना, गालियाँ देना, निंदा करना, बात कह कर पलट जाना इत्यादि श्वान वृत्ति वाले

लोगों की पहचान है। कुत्तों का कभी समाज नहीं बना करता। बिना श्वान वृत्ति का परित्याग किए देश में समाज अस्तित्व में नहीं आ सकता। समाज के अभाव में स्वतंत्रता प्राप्ति ही नहीं हो सकती। जब स्व अनेक होंगे तो तंत्र भी अनेक होंगे तब –

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।।

अर्थात् समान मन, समान समिति, समान विचार, चित्त मन की एकता उत्पन्न हुए बिना बँटी हुई मानसिकता की स्थिति में न समाज बन सकेगा और न स्वतंत्रता के ही दर्शन होंगे। स्वतंत्रता का फल पाना तो दूर की बात होगी।

विचारणीय है कि स्वतंत्रता का संग्राम कौन लड़ते हैं और किसके विरुद्ध लड़ते हैं? यह संग्राम लड़ने वाले कुछ स्वाभिमानी, परोपकारी, पर दुःख कातर लोग हुआ करते हैं। जो शोषकों, लुटेरों, शासकों– प्रशासकों और उनके दलालों के साथ लड़ते हैं। स्वतंत्रता संग्राम शोषित और पीड़ितों के लिए लड़ा जाता है। जब स्वतंत्रता के पश्चात भी शोषितों को उनके अधिकार नहीं मिले। उनका शोषण प्रताड़ण और स्वत्व हरण बंद नहीं हुआ तब आजादी का जश्न मनाने का क्या औचित्य है ? जिस तरह की आजादी का स्वप्न संजोकर क्रांति वीरों ने घोर प्रताड़ना झेली, जेलों में सड़े, फाँसी के फंदे चूमे, जवानी के सुखों को लात मारकर जीवन की बलि दे दी, वह आजादी कहाँ है ? उस आजादी का अपहरण हो चुका है। जिन लोगों से लड़कर आजादी प्राप्त की गई थी, उन्हीं लोगों ने पुनः उसका अपहरण कर लिया है। अतः अब एक और क्रान्ति की आवश्यकता है। आज फिर किसी भगतसिंह, बिस्मिल, आजाद और अश्फाक को आगे आना होगा। जो लोग धर्म और भगवान के नाम पर मिथ्या कर्मकाण्ड का जाल बुन कर भय दिखाकर देशवासियों के खून पसीने की कमाई पर हाथ साफ कर रहे हैं। पसीने की एक बूंद बहाए बिना ही करोड़ों के स्वामी हैं। ऐसे पुरोहित, साधु संत, समाज के शत्रु हैं। जिन लोगों ने मुसलमानों से जागीरें और लूट के माल में हिस्से लिए, अपनी बहन–बेटियां तक सौंपकर आम जनता का शोषण करते रहे। जिन लोगों ने अंग्रेज सरकार की दलाली की और बदले में तबके, तमगे और खिताब हासिल किए। जिन लोगों ने व्यापार के नाम पर कालाबाजारी करके, छल प्रपंच रच कर भोली जनता का सर्वस्व हरण करके उसे बेरोजगार करने और भूखों मार डालने का षडयंत्र रच रखा है। यही हमारी आजादी के अपहरण करने वाले हैं, इनको पहचानो। चाहे वे सनातन धर्मी हों या आर्य समाजी, सिया हों कि सुन्नी, कैथोलिक हों या प्रोटेस्टेंट, ब्राह्मण हों , क्षत्रिय हों , वैश्य हों या शूद्र। जो भी बिना श्रम की कमाई और शोषण करने वाला है वही देश और समाज का शत्रु है।

आज सारे देशवासियों को कबीलों में बांट दिया गया है। कोई मिलकर रहना ही नहीं चाहता। कहीं भीम सेना कहीं मीम सेना, कहीं करणी सेना, कहीं राम सेना, परशुराम सेना कहीं लश्करे श्री राम, कहीं शिव सेना, बजरंग दल, हिंदू वाहिनी इत्यादि बनाकर पता नहीं किसको मारना चाहते हैं? किस के खून के प्यासे हैं? दरअसल यह सभी अपने झूठे नस्ली अहंकार को पुनः जीवित करने में लगे हैं। संविधान, समाज और राष्ट्र की किसी को परवाह नहीं है। संविधान को छोड़कर अपनी बदमाशी को ही कानून बना देना चाहते हैं। लगता है देश गृह युद्ध की कगार पर पहुंच गया है। जब शासन–प्रशासन, पाखंडी और सरमाएदारों के हाथ की कठपुतली बन जाए तब आजादी की अस्मत सुरक्षित, रह पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसी सरकारें पूंजीपतियों के प्रति वफादार होती हैं और जो कुछ भी करती हैं वह केवल उनके मुनाफे और प्रॉपर्टी बढ़ाने के लिए ही करती हैं। किसानों की भूमि कौड़ियों के भाव अथवा जबरन छीन लेती है, शिक्षा, चिकित्सा, कारखाने उद्योग धंधे इत्यादि सारे आय के स्रोत पूंजी पतियों को सौंप बदले में कमीशन और चंदा लेकर ऐश करती हैं। आमजन को शिक्षा, चिकित्सा, न्याय और रोजगार से वंचित कर देती है। देश में कुछ ऐसे ही हालात बनते दिखाई दे रहे हैं। आज फिर वतन की आबरू खतर

इस आबरू का पाश देखें कौन करता है ?

– वेदप्रिय शास्त्री

भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यताएं : कला, समाज और भाषा की स्थिति पर प्रश्न

– अखिलेश आर्येन्दु

पिछले अंक में सभ्यताओं के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास पर एक समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हुए यह समझ में आया कि विदेशी पुरातत्त्व शास्त्रियों और इतिहासकारों ने भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यताओं पर विचार करते हुए निष्पक्ष और सिद्धान्त को आधार में न रखकर कल्पना, अनुमान और तुलना को आधार बनाया जिससे वे सभ्यताओं के इतिहास लेखन के साथ न्याय नहीं हो सका। सभ्यताओं में कला, समाज और भाषा प्रमुख तत्त्व होते हैं। पुरातत्त्व (उत्खनन) के आधार पर कलाओं, समाज की विभिन्न स्थितियों और भाषा पर विचार करना और कोई प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्यों कि ये ऐसे तत्त्व हैं जो अपने आप में किसी सभ्यता के लिए आधार माने जाते हैं। विचार करने की बात यह है कि विदेशी और वामपंथी इतिहासकार क्या पुरातत्त्व के इतिहास लेखन पर निष्पक्ष दृष्टि रखते हैं? इसी के साथ विचारणीय प्रश्न यह भी है कि सभ्यताओं के सम्बन्ध के विषय में अभी तक जिस दृष्टि से विदेशी और वामपंथी इतिहासकारों ने विचार किया है, क्या उसे हूबहू अपना लिया जाना चाहिए या विचार करने का विषय हो सकता है? ध्यान रहे, दुनिया का कोई भी विषय नहीं जिस पर बार–बार विचार करने की गुंजाइस न हो। यहाँ तक कि न्यूटन और कैपलर के सर्वमान्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर भी विचार की गुंजाइस बताई जाती है। मेरी समझ से सभ्यताओं के पुरातत्त्व सम्बन्धी इतिहास लेखन को समीक्षात्मक दायरे में रखना चाहिए जिससे किसी प्रकार की भ्रम की स्थिति न रहे। पाठकगण! मूल निवासी और तथा कथित आक्रमणकारी आर्य की इस श्रृंखला में भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यताओं की समीक्षापरक लेखन में इस अंक में सभ्यताओं की कला, समाज और भाषा की स्थिति पर विचार किया जा रहा है। आशा है पूर्व की तरह आप इस अंक के लेख को समय निकाल कर पढ़ेंगे और अपनी प्रतिक्रिया से अवगत कराएंगे।

– समन्वय सम्पादक

सभ्यताओं की कलाएं–

हड़प्पा, सिन्धुघाटी और मोहनजोदड़ों की सभ्यताओं के विकसित होने का प्रमाण पुरातत्त्व शास्त्री इस प्रकार देते हैं। जिसके अनुसार कि उपरोक्त वर्णित सभ्यताओं में कला का विकास अपने चरम पर था। इसका उल्लेख डॉ. ए. एस. अल्तेकर करते हैं। इनके सम्बंध में कुछ प्रमाण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। डॉ. अल्तेकर कहते हैं, उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं, ताबीज और मूर्तियाँ देखकर ऐसा लगता है कि उस समय की कला अपने उत्कृष्टता पर थी। मूर्तियाँ पशुओं की, खिलौने चीनी मिट्टी और काँसे की और आभूषण विभिन्न धातुओं के बनाए जाते थे। इनका मानना है कि जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उससे लगता है कि सिन्धु सभ्यता में 'कुम्भकार–कला' का खूब प्रचलन था। बर्तनों पर लाल पालिश होने का भी उल्लेख भी किया गया है। पुरातत्त्व शास्त्री के.एन. दीक्षित कहते हैं कि योगी की मूर्ति मिलना सिन्धु सभ्यता के कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी संदर्भ में यह भी उल्लेख किया जाता है कि योगी की मूर्ति से यह साबित होता है कि उस समय की कला पर धर्म का प्रभाव था।

आइए, अब उपरोक्त कला सम्बन्धी पुरातत्त्व शास्त्रियों के प्रमाणों और अनुमानों पर विचार कर लेते हैं। मोहनजोदड़ों सभ्यता में कला की उत्कृष्टता का जो उल्लेख पुरातत्त्व वेत्ता करते हैं उसमें अनुमान अधिक है, प्रमाण बहुत कम। उदाहरण के तौर पर पुरातत्त्व के विदेशी जानकार माने जाने वाले जॉन मार्शल के अनुसार सिन्धु घाटी सभ्यता में लोगों को सूत और रेशम से वस्त्र बनाने का अच्छा ज्ञान था। गुड़ियाएं बनाई जाती थीं और उन्हें विदेश भेजा जाता था। अब इनके उल्लेखों पर विचार कर लेते हैं।

हजारों वर्ष पूर्व काते गए सूत क्या मिलना सम्भव है? और गुड़ियाएं जो बनाईं जाती थीं उनका विदेश भेजने का प्रमाण क्या सम्भव है? और मान लीजिए सब कुछ सम्भव भी है तो कैसे पता कि वे गुड़ियाएं कितने सौ वर्ष पहले बनाईं गई थीं और वे किस प्रकार बनाई जाती थीं? हाँ, इतना तो माना जा सकता है कि सभ्यताओं में मिले उत्खनन के दौरान वस्तुएं वास्तव में उस समय की उत्कृष्ट कला का प्रमाण है, लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यताओं से उत्कृष्ट विदेशी सभ्यताएं कैसे हो गईं, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है।

एक बात और विचार करने वाली है जिस पर विचार कर लेना चाहिए। वह है मूर्तियों का कला से अधिक धार्मिक महत्त्व का बताना। किसी देश की वर्तमान में धार्मिक स्थिति, सांस्कृतिक स्वरूप और कला की स्थिति से उसके पूर्व की स्थिति को समझना और उसे प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत करना उस देश के साथ न्याय नहीं कहा जा सकता है। पुरातत्त्व शास्त्रियों ने कुछ ऐसा ही किया। मूर्तिकला का सम्बन्ध धर्म से इस लिए होना चाहिए, क्योंकि भारत एक धार्मिक देश रहा हैं। यह बात क्या तर्कसंगत कही जाएगी? पुरातत्व वेत्ता कहते हैं मोहनजोदड़ों सभ्यता के उत्खनन में मिट्‌टी से बना पुरुष का लिंग और स्त्री की योनि प्राप्त हुई है। इससे लगता है कि उस समय योनि की पूजा होती थी। यदि मोहनजोदड़ों की सभ्यता आर्यों की ही सभ्यता थी तो लिंग और योनि की पूजा का अनुमान लगाना ही सत्य को ठुकराने जैसा है। क्योंकि आर्य लोग कभी भी मूर्ति की पूजा नहीं करते थे। दूसरी बात, मात्र लिंग और योनि मिल जाने से कैसे सिद्ध होता है कि उस समय मानव के जननांगों की पूजा होती थी? मुझे लगता है, पुरातत्त्व शास्त्री भारत में प्रचलित मूर्ति पूजा को लिंग और योनि से जोड़कर देखने के आदी हैं। क्या लिंग और योनि जो भारत के खजुराहों के मंदिरों और अजंता की गुफाओं में निर्मित हैं वे कलाकृति कम बल्कि लिंग और योनि पूजा के तांत्रिक अनुष्ठान के अधिक करीब है? पुरातत्त्व में मिली वस्तुओं और खिलौनों को भी तो किसी न किसी धार्मिक अनुष्ठान से जोड़ा जा सकता है? फिर इन्हें कला, संस्कृति और समाज की स्थिति से जोड़ने का उपक्रम क्यों किया जाता है? अनुमान, कल्पना तो किसी भी वस्तु का किसी भी चीज से की जा सकती है। जब अनुमान और कल्पना ही करना है तो कुछ मूर्तियों में कला और कुछ में धार्मिक अनुष्ठान से जोड़ने का क्या मतलब? मुझे लगता है पुनः पुरातत्त्व विभाग को पुरातत्त्व से सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्ध में जो अनुमान या कल्पनाएं की गई है उस पर विचार करना चाहिए।

सभ्यताएँ और तात्कालिक समाज

सभ्यताओं के समाज के स्वरूप को पढ़कर मुझे कई बातों पर आश्चर्य और विसंगति लगती है। आश्चर्य इस बात की कि समाज की व्यवस्था पर जो कल्पना और अनुमान लगाया गया वह बहुत ही सतही लगता है। जैसे कि सिन्धुघाटी सभ्यता के समाज के विभाजन को आज के विभाजन जैसा ही बताया जा रहा है। कि पुजारी, ज्योतिषी, जादूगर और पदाधिकारी उच्च वर्ग के समझे जाते थे और मल्लाह, कुम्भकार, बढ़ई और कृषि–व्यावसायी निम्न वर्ग के। देखा जाए तो भारत की सामाजिक स्थिति पिछले दो हजार वर्षों से इसी तरह की है। लेकिन यदि सिन्धु घाटी सभ्यता की बात करें तो यह तो लाखों वर्ष पुरानी है। जब विश्व समाज वैदिक समाज व्यवस्था और धर्म को धारण करने वाला था। जहाँ वर्ण के आधार पर न तो किसी को उच्च समझा जाता था और न ही निम्न ही। पुरातत्त्व शास्त्री कहते हैं कि समाज मातृ–सत्तात्मक था। इसका अनुमान वे अवशेषों के आधार पर करते हैं। बात समझ में यह नहीं आती कि मातृ सत्तात्मक समाज का अर्थ उनका क्या? यह कि परिवार और समाज में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की स्थिति अधिक अच्छी थी या परिवार की मुखिया महिलाएं होती थीं, पुरुष महिलाओं के सलाह के बिना कोई कार्य करने में स्वतंत्र नही था?

इसी तरह कई बातों में मुझे विसंगति भी लगती है। विसंगति इस बात की कि कल्पना और अनुमान के आधार पर किसी सभ्यता के इतिहास को लिखना और कह देना कि ऐसा ही था, सत्य सिद्धान्त को नकारने जैसा है। होना तो यह चाहिए कि पुरातत्त्व से प्राप्त अवशेषों के आधार पर दोनों बातों की चर्चा होनी चाहिए थी कि 'सम्भवतः ऐसा रहा हो' या ' प्राप्त अवशेष ऐसा संकेत करते हैं' लिखना चाहिए था। इससे आगे खोज और गवेषणा की सम्भावना बनी रहती और जो अवशेषों के आधार पर लिखा गया यदि उसके उलट भी तर्कसंगत बात सामने आती तो उसे भी उतना ही

तवज्जो दिया जाता। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं किया गया और सभ्यताओं की वास्तविक स्थिति के खोज के गम्भीर धाराएं यह कहते हुए समाप्त कर दी गईं कि 'अमुक की बातों को इस लिए नहीं माना जा सकता है, अमुक पुरातत्त्व शास्त्री के बातों से मेल नहीं खातीं। इसका अर्थ तो यह हुआ न कि स्थापित व्यक्ति जो लिख दे या कह दे वही मान्य होगा और नये व्यक्तियों के कार्य और चिंतन की कोई अहमियत नहीं?

असंख्य वस्तुएं हड़प्पा, मोहनजोदड़ों और सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिली हैं। इसके आधार पर जिस प्रकार के सामाजिक जीवन का अनुमान लगाया गया और कल्पनाएं की गईं वे आज के अनुमान और कल्पना से मेल खाती हैं। लेकिन आज हम कल्पना या अनुमान के आधार पर यह दावा नहीं कर सकते हैं कि ऐसा ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ सोचने की गुंजाइस ही नहीं है। जैसा मोहनजोदड़ों सभ्यता के सामाजिक जीवन का अनुमान थाली, प्याले, चम्मच, तश्तरी आदि के आधार पर किया गया। कृषि मुख्य आजीविका का साधन थी लेकिन मांस–मछली का प्रयोग सबसे अधिक किया जाता था। इसका अर्थ समझ में नहीं आया। जब सभ्यता कृषि प्रधान थी और लोगों की आजीविका का साधन केवल कृषि थी तो आहार में उनके मांस–मछली मुख्य होगी कि कृषि में पैदा होने वाले शाकाहारी वस्तुएं? अब ऐसे में कैसे माना जा सकता है कि सभ्यताओं में प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह प्रमाणित होता है? मतलब प्रमाणित हो रहा है कि कृषि समाज की रीड़ थी लेकिन आहार के रूप में बताया जा रहा है कि लोगों का मुख्य भोजन मांस–मछली था। क्या विदेशी और वामपंथी पुरातत्त्व वेत्ता यह सिद्ध करना नहीं भूलते कि मांस–मछली का मुख्य आहार के रूप में प्रचलन सबसे उत्कृष्ट सभ्यताओं में भी प्रचलित था। जो कि न तो प्रमाणों से सिद्ध होता है और न तो तर्कसंगत ही लगता है।

सभ्यताओं के भाषा सम्बन्धी प्रश्न

सभ्यताओं के भाषा सम्बन्धी प्रश्न अत्यन्त जटिल हैं जो अभी तक हल नहीं किए जा सके हैं। विश्व के अनगिनत पुरातत्त्व शास्त्रियों –जिन्होंने सभ्यताओं के इतिहास निर्माण के कार्य में अपनी भूमिका निभाई, यह बताने में असफल रहे या प्रमाण प्रस्तुत करने में नाकाम रहे कि सभ्यताओं से सम्बन्धित लोगों की कौन सी भाषा (एं) थीं? ध्यान रहे अधिकांश सभ्यताओं में मिले अवशेषों पर अंकित लिपियों में लिखी भाषाएं पढ़ी नहीं जा सकी हैं। बिना लिपि के यह पता नहीं लगाया जा सकता कि अमुक भाषा का स्वरूप अमुक था। लेकिन इतना तो तय है कि अवशेषों पर जो लिपि अंकित मिलती हैं वे अत्यन्त उन्नत किस्म की हैं। अनेक लिपि विशेषज्ञ लिपियों को पढ़कर यह पता लगाने में लगे हैं कि अमुक संभ्यता में अमुक भाषा का प्रयोग और लिपि का प्रयोग आम जनजीवन में होता था।

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न इस सम्बन्ध में यह है कि बिना लिपियों के जाने और अवशेषों पर उकेरे गए ध्वनि चित्रों को समेझे कैसे किसी सभ्यता के इतिहास को प्रमाण सहित प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, भारतीय सभ्यता को दस हजार वर्ष बाद समझने वालों के लिए क्या यह जरूरी नहीं होगा कि वे देवनागरी, युरोपीय, गुरुमुखी, तमिल आदि लिपियों को अच्छी तरह समझते हों। बिना भाषा के ज्ञान के कैसे पिछले दो हजार वर्षों की भारतीय सभ्यता, कला, संस्कृति आदि को समझा जा सकेगा? यदि अवशेषों के आधार पर समझा भी गया तो वह पूर्ण तो नहीं होगा, बल्कि आधा–अधूरा ही होगा। ऐसे में भारतीय इतिहास को कैसे सच–सच लिखा जा सकेगा?

यह लेख यही समाप्त करता हूं शेष अगले अंक में चर्चा करूंगा।

–लेखक

****

सत्यभाषण – जैसा कुछ अपने मन में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा सत्य ही बोले, उसको **सत्यभाषण** कहते हैं।

मिथ्याभाषण – जो कि सत्य भाषण अर्थात् सत्य बोलने के विरुद्ध है, उसको **मिथ्याभाषण** कहते हैं।

– महर्षि दयानन्द सरस्वती

VAISHYAS : FEEDERS OF SOCIETY

– Dr. Roop Chandra 'Deepak'
Lucknow (U.P.)
Mob. 9839181690

The top two pillars of Vedic Indian society have been Brahmins and Kshatriyas. The third pillar i.e. the vaishyas were no less important. In fact, the Brahmins, busy in spreading knowledge, and the Kshatriyas, busy in warfare, were not supposed to earn bread even for themselves. It were the Vaishyas who used to earn bread for the four pillars. This way the Vaishyas were the feeders of society.

वयं स्याम पतयो रयीणाम्। (ऋग्वेद १०.१२१.१०)
धर्मस्य मूलमर्थः। (चाणक्य सूत्र – २)

As an aphorism Acharya Chaanakya says above that arth or wealth is the root of dharma or righteousness. Each and every person of the world needs bread, clothes and shelter. These three and other worldly necessities come under the section of 'Artha or wealth'. No person can deny money altogether. That is why, in the Rigveda's hymn above, there is a prayer that we may possess wealth and prosperity, that we should be the masters and not the slaves of money and wealth, and that we the noble humble vedicans should earn and possess enough and sufficient wealth.

पशूनां रक्षणं दानम् इज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।
(मनुस्मृतिः १–९०)

Manu the law giver says that the vaishyas have seven qualities and duties to perform as given below :-

(1) Pashoonam rakshanam or to rear cattle, like cow and other domestic animals, i.e, animal husbandry.
(2) Daanam, or to gift foodgrains, clothes or money to the needy without any discrimination.
(3) Ijyaa, or to perfom yajna daily.
(4) Adhyayanam, or to study the vedas and other vedic scriptures. and to know them well.
(5) Vanikpatham, or trade of all things required.
(6) Kuseedam, or money lending with righteous motives.
(7) Krishi or Agriculture.

Agriculture has been the most important occupation of Indian people. Even today about 70% of Indian population is associated with agriculture and animal husbandry. Indian farmers cultivate almost all major crops viz. rice, wheat, gram, barley, maize, pulses, potato, onion, sugarcane etc.

Indian people love cow very much. They rather regard her as a mother, since she gives nectar-like milk for their nourishment. In the times past 50 years and earlier each Indian family used to have one cow or more. Rishi Dayanand has written heartfully in support of the cow, giving the calculations that a cow does good to four lacs seventy five thousand six hundred persons in her lifetime.

When horse was a means of warfare, its rearing was also important. Elephants were also reared like horses and goats & sheep like cows. In this way the Vaishyas through animal husbandry used to give to society the beasts of burden & warfare as well as sufficient milk, ghee & other milk-products.

Trade & money lending were particular with the Vaishya varna. But the study of vedas and daily performance of yajna were along the same lines as those of Brahmins & Kshatriyas. The Vaishyas were also supposed to spend money for education and piety. It cannot be denied that the building of schools, gurukulas & research centres was not possible without the contribution of Vaishya Varna, howsoever learned the teachers and howsoever vigilant the protecters had been.

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।

(मनुस्मृति : ५–१०६)

Maharishi Manu educates us that purity of money is the highest of all purities. It is a matter of pride that the Indian people have been 100% honest in their produce, milk & likely commodities. In olden times they were very rich so that our country was called The Golden Bird. During the later period and particularly in the British period they became poor but they never took to adulteration. Nowadays India is infamous for adulteration, but when the varna-system was being followed, this sinful vice was not there in India.

Another high quality of Vaishya varna has been that these people have been non-violent and peace-loving. They have been all vegetarians, free from the use of weapons, and naturally expert in savings. But by and by the community became money-slaver, unevenly miser and cruel money-lender. A single Mahajan came to control the entire village so that this class became infamous. It deprived the innocent majority people from their economic rights and consequently the deprived class sank into miseries.

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

(अथर्ववेद : ३–२४–५)

Veda thus preaches: 0 man! You may earn money with a hundred hands but you should spend it then with a thousand hands. In other words, we can find several ways of earning, but we should discover more ways for donation. This can be the highest piece of education to the moneyed class. This educational training in the long past had made and

maintained our society to be prosperous above the dreams of other societies. But life has its ups and downs. The present generation says that the varna-system is outdated. But it is not the truth and this generation should go deeper.

The original varna-system was to choose a varna according to one's profession and nature. This rule registered the best member in each varna. The rule was quality-based and never birth-based. As an insect catches the fruit when it is ripe, the insect of birth-base caught the qualitybased system and contaminated the latter. But the cure is also simple, 'back to the pavilion', i.e. 'take to the quality base rule', and then rule over the world.

– ओम् की उपासना का साधन एवं समय–

– रतनलाल राजोरा

प्रभु का नाम उषा से पूर्व और सूर्यास्त से पूर्व लेना चाहिए। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त और सायंकाल ये दोनों ऐसे समय हैं, जबकि ब्राह्य प्रकृति समता का रूप धारण कर रही होती है। शरीर के अन्दर प्राण भी समता की ओर झुक रहे होते हैं। अभ्यासियों का अनुभव है कि ध्यान, उस समय ठीक लगता है, जब सूर्यस्वर (दाहिनी नासिका का श्वास) और चन्द्रस्वर (बायीं नासिका का श्वास) दोनों स्वर चल रहे हों। इन दोनों के एक साथ चलने में समता और शान्ति की वृद्धि होती है। यदि सूर्यस्वर चल रहा हो, तो शरीर में उष्णता अधिक हो जाती है, यदि चन्द्रस्वर चलता हो, तो शीत बढ़ जाता है। दोनों चलते हों, तो न शीत का जोर होता है और न गरमी प्रचण्ड होती है बल्कि शरीर में समता होती है, मन में भी शान्ति की वृद्धि हो रही होती है, अतः समता–प्राप्ति के लिए यह समय अत्यन्त उपयुक्त है।

ऋग्वेद के पहले सूक्त में उपासना का समय प्रातः एवं सायं दो काल ही बताए गए हैं। यजुर्वेद के अंत में भगवान् का ध्यान व चिन्तन ''ओम्'' नाम से करना बताया है। वह आकाश की भाँति व्यापक और सबसे महान् है। योग दर्शन में भी परमात्मा का नाम **प्रणव** ''ओम्'' बताया है। उसका (ईश्वर का) वाचक (नाम) प्रणव (ओम्) है। नाम–नामी का सम्बन्ध नित्य है।

उपनिषद् विद्या में बतलाया गया है कि ओम् का महान् अस्त्र धनुष लो और उसमें उपासना का तीक्ष्ण तीर जोड़ो। तन्मय चित्त से झुको और अविनाशी प्रभु को लक्ष्य बनाओ। ब्रह्म लक्ष्य है। तीर की भाँति तन्मय होना चाहिए अर्थात् प्राण के साथ ''ओम्'' को मिला दें और आत्मा को उस ''ओम्'' अक्षर के द्वारा परमात्मा से जा मिलाएँ। इस प्रकार जो आत्मा समता का साधन करता है, उसे आत्म राज्य मिलता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। आत्म–राज्य ही सच्चा स्वराज्य है।

सारे वेद जिस पद का मनन् करते हैं, सारे तप जिसका उपदेश करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से सभी ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह पद ''ओम्'' है। सारे वेद, उस परम्–व्यापक अविनाशी परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण वेदों, तपों, ब्रह्मचर्यों का लक्ष्य ''ओम्'' है।

गति के नियमानुसार, कोई परमाणु या कण तब तक गति नहीं कर सकता, जब तक उस पर बाह्य बल कार्य न करे। इसी प्रकार सृष्टि निर्माण के समय सर्वोच्च शक्ति के कारण ही मूल कणों में गति प्रारम्भ होती है। उस सर्वोच्च शक्ति को ही ईश्वर कहते हैं। जिनका मुख्य नाम **ओम्** है।

गुण अनुसार सत्यार्थ प्रकाश में ईश्वर के 100 नाम बताये गये हैं। ईश्वर के जितने भी नाम हैं, उनमें परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम ''ओम्'' है। इसलिये इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार करना चाहिए। जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर, स्थिर हो जाता है, जिससे उसके हृदय में परमात्मा के प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम भक्ति सदा ही बढ़ती जाती है। ओम् शब्द ही ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखना चाहिए।

आओ हम आस्था, श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति और प्रीति से ''ओम्'' नाम के द्वारा, सबके द्वारा नमस्कार करने योग्य, भगवान् की प्रातःकाल और संध्याकाल में अराधना करें। ओम् शान्ति।।

वेदभाष्यकरणाधिकारानधिकार समीक्षा : वेद भाष्य करने का अधिकार और अनाधिकार

— आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय
(नई दिल्ली)

वेदभाष्य करने के अधिकार और वेद में देवता, ऋषि आदि के प्रकरणों को लेकर आर्य जगत् और आर्येत्तर जगत् में तरह–तरह के प्रश्न उठाए जाते रहे हैं जिनका समाधान समय समय पर आर्य जगत् के सुयोग्य वैदिक विद्वानों द्वारा दिया जाता रहा है। अब जब कि जिज्ञासा करने वाले कम हो गए हैं और बकवासियों की संख्या लगातार बढ़ रही है, ऐसे में वेद को लेकर बकवास करने वाले बकवासियों का मुँह बन्द करने और सामान्यतया वेद पर उठाए जाने वाले प्रश्नों का समाधान वेद सम्मत और वेद व्याकरण सम्मत किस तरह दिया जाए, यह एक चुनौती भरा कार्य है। लेकिन अब भी आर्य जगत् में ऐसे विद्वान् हैं जो वेद पर सामान्य और विशेष उठाए जाने वाले प्रश्न का युक्तियुक्त और वेद सम्मत समाधान करने की योग्यता रखते हैं। ऐसे ही सुविख्यात वैदिक विद्वान् हैं आचार्य वेद प्रकाश श्रोत्रियजी। जिन्होंने मेरे विशेष आग्रह पर आर्ष क्रांति मासिक पत्रिका के सुयोग्य और जिज्ञासु पाठकों के जिज्ञासा वाले प्रश्नों का समाधान करने की स्वीकृति दी। इस प्रथम सोपान में 'वेदभाष्यकरणाधिरानधिकार समीक्षा' प्रस्तुत की जा रही हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में वेदभाष्य करने वाले अत्यन्त दुःसाहसी, हठी मनुष्यों के लिए यह लेख कुछ आत्म अवलोकन में सहायक हो सकता है। यह लेख प्रश्नोत्तर विधा में प्रस्तुत किया जा रहा है। — सम्पादक

प्रश्न — क्या कोई संस्कृतज्ञ विद्वान् वेदभाष्य करने का अधिकारी हो सकता है?

उत्तर —कोई कितना ही बड़ा संस्कृतज्ञ विद्वान् हो परन्तु वेदभाष्य करने का अधिकारी नहीं हो सकता है।

प्रश्न— वेदभाष्य करने का अधिकारी कौन है?

उत्तर — वेदभाष्य करने का अधिकार केवल साक्षात्कृतधर्मा ऋषि को ही है।

प्रश्न— ऐसे ऋषि कौन होते हैं?उनके लक्षण क्या हैं?

उत्तर— "जो साक्षात् सब विद्याओं का जानने वाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है–जिसको पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपा दृष्टि से सब सुख होने के लिए सत्य उपदेश करने वाला है और जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों का यथावत् साक्षात् करना और उसके अनुसार वर्तना इसी का नाम आप्ति है, इस आप्ति से युक्त हों, उसको आप्त= ऋषि कहते हैं।"

— (महर्षि दयानन्द)

और भी

..........क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित सब विद्याओं से युक्त महायोगी और सब मनुष्यों के लिए सत्य का उपदेश करते हैं जिनमें लेश मात्र भी पक्षपात व मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है।

(महर्षि दयानन्द)

प्रश्न— इस विवेचन में यह कहाँ सिद्ध होता है, इनको ही वेद व्याख्यान करने का अधिकार है?

उत्तर— इन्हीं लक्षणों से युक्त ऋषि संज्ञा को प्राप्त होकर मंत्र अर्थात् पद, शब्द और अक्षरों को परस्पर संगत करके उनका यथावत् विचार कर सकता है। क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं अर्थात् उनमें जितने मंत्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्य विद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रखा है, क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। जिन्होंने सब विद्याओं और पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों का यथावत् साक्षात नहीं किया है, वे

बिना यथावत् विचारे कैसे व्याख्यान कर सकते है? अगर करते हैं तो ऐसा किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं। क्योंकि उसमें कहीं न कहीं पक्षपात्, छल, कपट आदि दोष सहित मिथ्याचार होगा ही। जिसने महायोगी होकर वेदों से वेदों के पद, शब्द, अक्षर, समुदाय की संगति नहीं देखी है तब तक वेदभाष्य करने की उसको सोच भी नहीं रखनी चाहिए।

प्रश्न– फिर वे संस्कृतज्ञ विद्वान् क्या करें?

उत्तर– वे संस्कृतज्ञ विद्वान् महायोगी बनने का निरन्तर पुरुषार्थ करें तथा उस योग बुद्धि से ऋषियों ने जो लिखा है उन शास्त्रों को समझने की रीति तथा संगति पूर्वक विद्या का प्रकाश अपने हृदय में करें।

प्रश्न– आखिर कोई स्पष्ट कथन तो होना चाहिए कि जिससे हम यह कह सकें कि ऐसे ही लोग वेद व्याख्यान करने के अधिकारी होंगे।

उत्तर– वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य, प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरणादि वेदांगों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा उनके संग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किए व्याख्यानों को न देखे, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता है। इस लिए सब आर्य विद्वानों का सिद्धांत है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क हैं, वही मनुष्यों के लिए ऋषि है।

प्रश्न – सायणाचार्य और महीधरादि के किए भाष्य के विषय में क्या कहना चाहिए?

उत्तर – सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोग थे। इनके भाष्य या व्याख्यान झूठे होने के कारण ठीक ठीक नहीं हैं और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुख प्राप्त होता है। बुद्धिमान् आप्त लोग इन व्याख्यानों को प्रमाण नहीं करते। क्योंकि इनके व्याख्यान भ्रान्त हैं।

प्रश्न –आपने सायण, महीधर आदि सभी भाष्यकारों को समवेत रूप से अल्पबुद्धि कह दिया। यह तो समीचीन नहीं है?

उत्तर – साधारण मनुष्य चाहे वे कितने ही संस्कृतज्ञ विद्वान् हों, जब तक वे पूर्ण विद्वान् होकर महायोगी न हों, तब तक उनका कोई वचन प्रामाणिक अर्थात् प्रमाण करने योग्य नहीं है। अनृषि अल्पज्ञ ही होते हैं।

प्रश्न – पूर्ण विद्वान् होने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर – पूर्ण विद्वान् होने से हमारा तात्पर्य यह है कि पूर्व ब्रह्मादि ऋषियों से आरम्भ होकर जैमिनी पर्यन्त ऋषियों ने एतेरेय, शतपथादि ग्रन्थ बनाए थे, तथा पाणिनि, पतंजलि, यास्कादि महर्षियों ने वेद–वेदांग जो वेद व्याख्यान किए हैं, वैसे ही जैमिनि आदि ने उपांगाख्यान षट् शास्त्र तथा उपवेद आख्यान, वेद शाखाख्यान रचे हैं, संग्रह मात्र अर्थात् साक्षात् करने से जो सत्य अर्थ प्रकाश होता है, वह परमेश कृपया जान लिया गया है। वे ही ईश्वरानुंग्रह से पूर्ण विद्वान् होने में समर्थ हैं।

प्रश्न – यह बात कैसे मान ली जाए कि सायणादि के व्याख्यान इन सब ऋषि–मुनियों के बनाए सब ग्रन्थों के विरुद्ध हैं?

उत्तर– स्थालीपुलक न्याय से इस तथ्य का प्रकाश किया जाता है।सायण कहते हैं कि–"सर्वे वेदाः क्रियाकाण्ड तत्पराः सन्ति" अर्थात् सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं। यह इन्होंने परम अर्थ को न जानकर ही कहा, क्योंकि वेद सब विद्या से युक्त हैं"।

प्रश्न– क्या इससे पृथक् सब ठीक है?

उत्तर– नहीं! इससे पृथक् भी अपने व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उल्टे किए हैं। सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रखा है। इस पर हम कहते हैं कि जब मन्त्रों से परमेश्वर ही ग्रहण है तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उसको क्यों ग्रहण किया है। कुल मिलाकर पूर्वापर विरोधी है जो आगे पीछे की संगति को तोड़ देता है।

प्रश्न– किसी ऐसे मन्त्र का दिग्दर्शन कराइए जिससे कि उनका किया मन्त्र का अर्थ अन्यथा सिद्ध हो सके?

उत्तर –

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋ.1/164/46)

सायण ने मन्त्र का अन्यथा वर्णन किया है। इन्द्र शब्द विशेष्य है और मित्र आदि विशेषण। विशेष्य विशेषण को अच्छी प्रकार समझ भी नहीं सके! इससे बड़ा भ्रम और क्या हो सकता है? जबकि इसके विपरीत इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि उसके विशेषण हैं। इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया है। यह रहस्य सायणाचार्य नहीं जान सके। निरुक्तकार भी अग्नि शब्द विशेष्य ही वर्णन किया है। वस्तु स्थिति यह है कि अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

अस्तु! विस्तारादि भय से अधिक नहीं लिखा जाता है। पर सायण के पाण्डित्य का नमूना यह है कि इस मन्त्र के तीन आख्या पद भी उसे दिखाई नहीं दिए और न कारण जान सका। तीन आख्यात पदों के कारण इस मन्त्र के तीन अन्वय होते हैं और 'एक तिङ् वाक्यम्' के आधार पर इसमें तीन वाक्य भी बनते हैं। जहाँ विशेष्य और विशेषण को नहीं समझ सके, वहाँ पर उसकी विचित्र बुद्धि और विचित्र संगति देखने को मिली है।

इसी प्रकार सायण के साथ साथ उवट, महीधर, माधव, आत्मानन्द, दुर्ग, स्वकन्द, ग्रिफिथ, विल्सन तथा गोल्डनर आदि सभी की अपव्याख्यााएं हैं। ये सभी पाश्चात्य विद्वान् सायण के अनुगामी हैं।

प्रश्न– महर्षि दयानन्द की दृष्टि से आपने इन सभी भाष्यकारों की आलोचना कर दी क्योंकि इनके पास ऋषि दृष्टि नहीं थी। पर ऋषि दयानन्द के अनुगामी विद्वानों ने जो भाष्य किए हैं, उनके बारे में आपका क्या मत है? उन्होंने तो सबने यही लिखा है कि हमारा भाष्य ऋषि शैली पर आधारित है। क्या कहेंगे?

उत्तर– यह उनका मिथ्या दम्भ ही है, कि हमारा भाष्य ऋषि शैली पर आधारित है। क्योंकि जब वे ऋषि हैं ही नही ंतो ऋषि शैली क्योंकर हो सकती है? हमने ऋषि = आप्तों के विषय में पूर्व में बहुत कुछ लिख दिया है, उससे इनके विषय में यथातथ्यतः जाना जा सकता है।

प्रश्न– अगर इन भाष्यकारों को भी ऋषि मान लिया जावे तो क्या आपत्ति है?

उत्तर– हमको कोई आपत्ति नहीं है। पर इनको ही एक दूसरे से आपत्ति है। परस्पर एक दूसरे का भयंकर विरोध करते हैं। अगर ये विद्वान् लोग ऋषि होते तो परस्पर विरोध क्यों करते? कोई ऋषि किसी ऋषि का विरोध नहीं करते हैं क्योकि उनमें परस्पर विरोध होता ही नहीं है। यथार्थ दर्शन जिसको ज्ञान कहते हैं कि उसमें विरोध का अवकाश ही नहीं। और जब यथार्थे दर्शन नहीं होता तो अपने को सबसे बड़ा विद्वान् बताने की होड़ में परस्पर ईर्ष्या मिथ्या ज्ञान से जागती है, फिर एक दूसरे को मिथ्या कहते हैं।

प्रश्न– क्या अपनी अपनी बुद्धि से नवीन भाष्य नहीं रचा जा सकता है?

उत्तर– मनुष्यों के पास अपना जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह मात्र साधन कोटि में है। जैसे मन के संयोग के बिना आँख से कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता तथा आत्मा के संयोग बिना मन से भी कुछ नहीं होता वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधन मात्र है। जब तक परमात्मा की कृपा उस विद्वान् की बुद्धि को अपने में युक्त करके प्रकाशित नहीं करती, वह विद्वान् उस प्रकाश को निश्चय किए बिना समस्त ऋषियों के सनातन व्याख्यान ग्रन्थों के अनुसार प्रमाण युक्त अविरोधी भाष्य नहीं बना सकता। यही अल्प बुद्धि लोगों के भ्रमित युक्त, रागद्वेष युक्त एक दूसरे को नीचा दिखाने वाले भाष्य नाम से कहे जाने वाले व्याख्यान वेद को दूषित करते रहेंगे।

प्रश्न– प्रायः कोई विद्वान् वर्तमान वैज्ञानिकों के समकक्ष या उनसे अधिक अपने को मण्डित करने या करवाने के लिए अपने लिए अपने लिखे ग्रन्थों में उन वैज्ञानिक महोदयों के द्वारा लिखे scientifial Termes (वैज्ञानिक पदों) का प्रयोग कर वेदों में सामंजस्य बैठाते हैं, क्या उनसे वेद का यथार्थ विज्ञान प्रकाशित हो सकता है?

उत्तर– वेद की भाषा में अपने पद हैं जो ईश्वर प्रदत्त हैं। वह भाषा ही ब्रह्माण्ड विज्ञान के यथार्थ विज्ञान को खोलती है। यह उनका प्रयत्न मात्र एक थोथा आडम्बर

मात्र ही है। इसलिए वे महानुभाव जो भी लिखते हैं, वह सब मिथ्या प्रलाप यथार्थ से बहुत दूर होता है। ऐसी ऐसी कल्पनाएं जो बिना सिर पैर की–आधारहीन जिनका वेद के व्याख्यान से कोई सम्बन्ध नहीं, वे अपने भाष्य में लिखकर दुनिया को चमत्कृत करना चाहते हैं। भला, ऐसे तलैया के मेढक समुद्र की गम्भीरता को जानने में समर्थ कैसे हो सकते हैं? वैज्ञानिक महोदयों के विचारने का तरीका मनुष्यकृत बौद्धिक प्रयास का एक अलग तरीका है–परन्तु वेद की भाषा पूर्ण ज्ञान में समस्त ब्रह्माण्डस्थ पदार्थों व सत्य विद्याओं को समेटे हुए है जो अत्यन्त सरल तथा सहज है जो अल्प प्रयत्न से बहुत गम्भीर आशयों को प्रकट करने की क्षमता रखती है। बिना योगी हुए पद और अर्थ स्पष्ट नहीं समझे जा सकते। इसलिए इनके भाष्य यथार्थ विज्ञान को कभी भी प्रकाशित नहीं समझे जा सकते। इसलिए इनके भाष्य यथार्थ विज्ञान को कभी भी प्रकाशित नहीं कर सकते।

प्रश्न– जैसा कि वर्तमान में देखा जाता है कि विद्वान् प्रायः कहते हैं कि एक ही मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं और वे अर्थ करने के लिए अपनी शक्ति = सामर्थ्य का प्रयोग करते हैं। इसको स्पष्ट कीजिए कि क्या यह त्रिविध भाष्य (एक मन्त्र का) समीचीन है?

उत्तर– हाँ! एतद्विषयक त्रिविध भाष्य (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) करने की परम्परा इन विद्वानों की प्रवृति में पाई जाती है। पर ये वे विद्वान् हैं जिन्होंने दैवत सिद्धान्त का अवगमन नहीं किया है या उनके वश की बात नहीं है। एक ही मन्त्र का त्रिविध भाष्य इनके वश की बात है भी नहीं–असंभव होने से।

प्रश्न– दैवत सिद्धान्त किसको कहते हैं?

उत्तर– दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाए अर्थात् जो–जो संज्ञा जिन–जिन मन्त्रों में जिस–जिस अर्थ की होनी है, उन–उन मन्त्रों का नाम वही देवता है।

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे.................। जैसे इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहाँ अग्नि को ही देवता समझना चाहिए। ऐसे ही जहाँ–जहाँ मन्त्रों में जिस–जिस शब्द का लेख है, वहाँ–वहाँ उस–उस मन्त्र को ही देवता समझना होता है।

इसमें कारण यह है कि सर्वज्ञ ईश्वर ने जिस जिस अर्थ को जिस–जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है।

प्रश्न– उस–उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है–जिनको ईश्वर ने उपदेश किया है। इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट करने की कृपा करें।

उत्तर– बड़ी साधारण सी बात है कि उन–उन नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है जिनको ईश्वर ने उपदेश किया है। इसका सुनिश्चित अभिप्राय यह है कि आप अर्थ में स्वतन्त्र नहीं हैं कि तर्क से या श्रवण मात्र से अपने मन्तव्य की पूर्ति के लिए जो चाहें सो अर्थ कर लें। अपितु ईश्वर ने जिस–जिस अर्थ को जिस–जिस नाम से कहा है, उसी नाम से वही अर्थ करना है। कैसे? ईश्वर से पूछकर! यही कारण था कि ऋषि दयानन्द मन्त्र का अर्थ करने से पूर्व पंडितों से यह पूछकर कि आज का कौन सा मन्त्र है, इससे पीछे का मन्त्र और आगे का मन्त्र जानकर समाधि में चले जाते थे। समाधि में ईश्वर से पूछकर मन्त्रार्थ लिखवाते थे।

प्रश्न– इस प्रकार से ईश्वर से पूछकर तो वर्तमान किसी विद्वान् ने भाष्य नहीं किया है। यह क्षमता किसी में दृष्टि गोचर नहीं होती। फिर यह तो यह भाष्य ही नहीं हुआ।

उत्तर– यह भाष्य उसी श्रेणी में आते हैं जिनको ऋषि ने लिखा है कि अनार्ष ग्रन्थों को पढ़ना ऐसा ही है– कि जैसे खोदा पहाड़ और निकली चुहिया। यानी महान् प्रयत्न से कुछ भी नहीं प्राप्त करना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा ही है जैसे कोई गोताखोर अल्प प्रयत्न से अनेक रत्न मोतियों को प्राप्त करे। बिना ईश्वर से पूछे, स्वतंत्र बुद्धि से किया गया भाष्य भाष्य है ही नहीं, वह सर्वथा भ्रान्त है।

प्रश्न– हमारा प्रश्न कहीं दूर न चला जाए। इसलिए हम उसी प्रसंग में पूछते हैं कि वे ऋचाएं कितने प्रकार की होती हैं?

उत्तर– जिन ऋचाओं से महायोगी महर्षि लोग सब सत्य विद्याओं की स्तुति करते हैं सो तीन प्रकार की हैं–

(1) परोक्षकृता (2) प्रत्यक्षकृता (3) आध्यात्मिकी।

उनमें से कई एक मन्त्र परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के प्रतिपादन करने वाले हैं। कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्यकारण के प्रतिपादन करने वाले हैं। अर्थात् त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण इनका नाम देवता है। यह सर्वथा असम्भव है कि एक ही मन्त्र का त्रिविध भाष्य हो सकता है। क्योंकि उपर्लिखित यह कथन यास्क तथा ऋषि दयानन्द स्वीकार नहीं करते।

प्रश्न– निरुक्त के इस वचन से तो यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक ऋचा तीन प्रकार की होती है और उसके अर्थ भी तीन होते हैं?

उत्तर– ऋषि दयानन्द जी के भाष्य में भी एक ऋचा के तीन अर्थ जो विद्वान् द्वारा मण्डित हैं–कहीं नहीं किए गए। मैं ऐसे विद्वानों से निवेदन करता हूं– अगर वे अपने इस मत पर दृढ़ हैं कि प्रत्येक ऋचा के तीन अर्थ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक होते हैं और उनमें सामर्थ्य है तो मैं ऐसे मन्त्र उनकी सेवा में रखने को तैयार हूँ जिनका त्रिविध अर्थ करके दिखाएं। ऐसे महानुभावों को हम समस्त ऋषियों से ऊँची कोई संज्ञा अगर हो सकती है, तो उस संज्ञा का संज्ञी घोषित करेंगे। पता नहीं, ये विद्वान् इस प्रकार के पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु इस प्रकार झूठे भाष्य करके कुचेष्ठा क्यों करते हैं?

प्रश्न– कृपया मन्त्रार्थ प्रक्रिया कि कैसे मन्त्रार्थ होता है, उसका वर्णन कीजिए?

उत्तर– तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपिश्रुतितोऽपितर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।

अर्थात् उस मन्त्र समूह = पद, शब्द अक्षर समुादायों की इतरत् अर्थात् परस्पर विशेष्य विशेषणता से सामान्यवृत्ति में वर्तमान मन्त्रों के अर्थ ज्ञान की चिन्ता होती है कि इस मन्त्र का कौन अर्थ होगा ऐसी अभ्यूहा अर्थात् बुद्धि में आभिमुख्य से ऊहा = विशेषज्ञानार्थतर्क मनुष्य के द्वारा करना चाहिए। ये मन्त्र श्रुति से = श्रवण मात्र से और केवल तर्क मात्र से पृथक् पृथक् निश्चय से नहीं अर्थ करने चाहिए किन्तु प्रकरणानुकूल पूर्वापर सम्बन्ध से ही अर्थ करने चाहिए। परन्तु इन मन्त्रों में अनृषि = जो ऋषि नहीं हैं, अतपसः = जो तपस्वी नहीं है, अशुद्धान्तः करण अविद्वान् है उनको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। इस निरुक्त के वचन में कई शब्द ऐसे हैं जो अत्यंत गूढ़ार्थ रखते हैं और स्पष्टता हेतु व्याख्या चाहते हैं–(1) प्रकृति मन्त्र समूह (2) इतरत् (3) सामान्यवृत्ति (4) चिन्ता (5) अभ्यूहा।

प्रथम हम प्रकृति को खोलते हैं–तत्प्रकृति अर्थात् तस्यमन्त्रसमूहस्य उस मन्त्र समूह की प्रकृति अर्थात् पद शब्दाक्षर समुदाय ही है। उन प्रकृतियों अर्थात् व्यंजन और स्वर दोनों में से इतरत् स्वर नाम है। शंका होती है कि शब्द व्यंजन क्यों नहीं लिखा गया? उसका समाधान है कि व्यंजन में वर्तन–सामान्यता नहीं है। क्योंकि स्वर ही व्यंजन में सामान्यवृत्ति में यानी सामान्यतया रहता है। यह अनुशीलन करना सबकी मति के स्तर से परे है।

दूसरा पद शब्द अक्षर समुदाय में एक विशेष सम्बन्ध विशेष्य और विशेषण का है जिसको सायणादि आर्यावर्त्तदेशस्थ विद्वान् तथा योरोप खण्ड निवासी पाश्चात्य विद्वान् भी इस विशेष्य विशेषण सम्बन्ध को नहीं समझ सके। वर्तमान विद्वानों की कथा ही क्या है?

(4) चिन्ता –5 अभ्यूहा– इन दोनों का अर्थ इस प्रकार है कि पद शब्द अक्षर समुदायों में व्यंजन से मिलकर स्वर अर्थात् व्यंजन में सामान्यता वर्तमान स्वर के सहित विशेष्य विशेषण अभिप्राय युक्त मन्त्रार्थ ज्ञान करने की चिन्ता का अर्थ आध्यान व ध्यान होता है। इस विषय में चिन्ता शब्द को न्याय कैसे खोलता है– अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थसमूहस्तर्कः (न्याय द. 1/1/40) तथा विमर्शात्प्रभृति प्राड़.निर्णयात् यत्समीक्षणं सा चिन्ता (जिज्ञासा) (1/2/7) अर्थात् जिस पदार्थ का स्वरूप ज्ञात न हो – उसको यथार्थत या जानने के लिए कारण के आरोप द्वारा तत्त्वज्ञान के लिए ऊहन करना तर्क कहलाता है। उसी प्रकार विमर्श से लेकर निर्णय से इस विषय में 1/1/40 का भाष्य भी देखिए–

अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा (चिन्ता) तत्वाज्जायते जानीयेमर्थमिति। अर्थात् अविज्ञायमान तत्त्व वाले अर्थ जिज्ञासा (चिन्ता) होती है कि मैं इस अर्थ को जानूँ।

अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मो विभागेन विमृशाति किंस्विदित्थमाहोस्विन्नेत्थमिति विमृश्यमानयोः धर्मयोरेककारणोपपत्त्याऽनु जानाति सम्भवत्यस्मिन्कारणं प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवम् नेतरदिति।.............

............ऊहस्तर्कइत्युच्येत (1/2/7)

अर्थात् इसके बाद जिज्ञासित वस्तु के व्याहत धर्मों के विभाग से विमर्शन करना कि यह ऐसा है या कि ऐसा नहीं है और विमृश्यमात्र दोनों धर्मों में एक का कारणोपपत्ति से यह अनुमान करता है कि इसमें यह कारण हो सकता है, ऐसा कारण, प्रमाण या हेतु कारणोपपत्ति से ऐसा हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता, यह ऊहन 'तर्क' कहलाता है।

न्याय बुद्धि में धर्मी की साध्यवत्ता है या उसका अभाव है इस प्रकार की चिन्ता को जिज्ञासा कहते हैं। अर्थात् अविज्ञात तत्त्वार्थ में तत्त्व जिज्ञासा 'चिन्ता' और जिज्ञासित के तत्त्वज्ञानार्थ कारण को उपपत्ति से ऊह करना तर्क है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि चिन्ता और अभ्यूहा दोनों एक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। अभ्यूह का अर्थ बुद्धि में भली भाँति से आभिमुख्य से ऊहन करना ही है और चिन्ता का प्रयोग आध्यान व ध्यान करना अर्थ में है। सब मन्त्र प्रकरणनुकूल ही निश्चय से वक्तव्य हैं, पूर्वापर सम्बन्ध से। परन्तु विशेष ध्यातव्य है कि अर्थज्ञान का यह प्रत्यक्ष ऋषियों, तपस्वियों शुद्धान्तःकरण विद्वानों में ही होता है।

इस प्रकार मन्त्रों में प्रत्यक्ष किए हुए पारोवर्यवित् मनुष्यों में बहुविद्या से युक्त प्रशस्य उत्तम विद्वान् होता है, वही अभ्यूढ सुतर्क से वेदार्थ को कहने में समर्थ है– यही सिद्ध है।

प्रश्न – इस प्रकार आर्ष और अनार्ष को स्पष्ट कर दीजिए।

उत्तर – जो कोई अनूचान विद्या पारग पुरुष वेदार्थ को प्रकाशित् करता है, वही आर्ष ऋषि प्रोक्तवेद व्याख्यान होता है, ऐसा मानना चाहिए। और जो अल्पबुद्धिपक्षपात युक्त मनुष्य का अभ्यूहन होता है, वह अनार्ष अनृत अर्थात् झूठ होता है। यह किसी के द्वारा आदर के योग्य नहीं है। क्यों? मन्त्र का अनर्थ युक्त होने से। इसके आदर से मनुष्यों का भी अनर्थ होता है।

प्रश्न – क्या 'निर्वक्तव्य' का अर्थ निर्वचन नहीं कर सकते?

उत्तर – हाँ! कुछ लोग शब्दों के निर्वचन को व्याख्यान समझकर अपने पाण्डित्य का नमूना दिखाते हैं। वस्तुतस्तु निर्वचन व्याख्यान है ही नहीं। इस निर्वचन को व्याख्यान मानना मात्र कपोल–कल्पना ही है। निर्वचन को व्याख्यान निश्चय के लिए किया जाता है। कहीं भी व्याख्यान निर्वचन निश्चय के लिए नहीं होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ वेद व्याख्यान हैं, वे केवल निर्वचन मात्र नहीं कहे जा सकते। निर्वचन व्याख्यान का अंग होता है न कि व्याख्यान निर्वचन का। शब्दकल्पद्रुम कहता है कि जैसे शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त से होता है, अनिरुक्त मन्त्रार्थ व्याख्यातव्य नहीं होता। इसका भाव यह है कि पहले निर्वचन किया जाए फिर व्याख्यान किया जावे। अतः अपनी पूर्वाग्रहग्रस्त भावना की पुष्टि के लिए पक्ष में शब्दों का निर्वचन कर व्याख्यान कर लेना–वेद को दूषण करना ही है। अज्ञानान्धकार में निमग्न व्यक्ति कैसे वेद भाष्य कर्म कर सकता है।

अतः सिद्ध है कि वेदभाष्य करने का अधिकार केवल ऋषियों को ही है। जो ऋषि नहीं अर्थात् अनृषि अतपस्वी हैं उनको वेदभाष्य करने का अधिकार नहीं है। अन्त में यही कहूंगा कि –

ज्ञातुं शक्त शास्त्रविद्यां मनुष्यः, आर्षग्रन्थस्याऽनुशीलेन
नित्यम्।
नो वाऽनार्षग्रन्थपाठाऽनुघोषी, मेधाशून्योऽसूयकः
कश्चिदेव।।

आर्ष ग्रन्थों के नित्य अनुशीलन करने से ही मनुष्य वेद रहस्य को समझने में समर्थ हो सकता है, मेधा शून्य होकर अनार्ष ग्रन्थों के पढ़ने और धोखने वाले, गुणों में दोष दर्शी, नहीं समझ सकते। इति

जाति–जन्म से या कर्म से
झनझनाहट पैदा करता – दिमाग की गांठें खोलता

– संत समीर

आमतौर पर वर्ण और जाति को एक ही अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा पूरे भारतीय समाज में है। जन्मना जाति को लेकर मूर्खता पूर्ण अंहकार और हीन भावना पूरे भारतीय समाज में है। बिडम्बना यह है कि भारत के तथाकथित स्वम् को शिक्षित मानने वाले लोग कहीं ज्यादा इस मानसिक बीमारी से ग्रस्त हैं। ऐसे तथाकथित शिक्षित लोगों ने ही पूरे भारतीय समाज को जातियता के महाअंधकार में ढकेलने के कार्य किए हैं। इस बीमारी ने योग्यता, प्रतिभा, बेहतर के चुनाव के अवसर, मानवता, ज्ञान का सम्मान, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक विकास व प्रगति, भाई चारा, समरसता, पवित्रता, राष्ट्रीय एकता, वेद शास्त्रों की धारा और आदर्श समाज निर्माण को समाप्त कर दिया है। यही कारण है कबीर, महर्षि दयानंद, राजा राम मोहन राय, महात्मा ज्योति बा फूले जैसे अनेक महा पुरुषों ने खुलकर इस रोग को जड़मूल से समाप्त करने लिए पूरा जीवन लगा दिया और अंतिम श्वास तक इसका विरोध किया। लेकिन ज्यों–ज्यों दवा की रोग बढ़ता गया, वाली बात आगे बढ़ती रही। स्पष्ट है आज समाज में ऐसे जातिवादी लोग प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे हैं जो जाति के नाम पर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए समाज को महाअंधकार में धकेल रहे हैं। स्पष्ट है ऐसे लोगों का जब तक सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाएगा तब तक इस सब से बड़ी सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक बीमारी का इलाज नहीं हो सकता है। इस बीमारी ने वेद, शास्त्र और वैज्ञानिक विचार धारा को ही नष्ट–भ्रष्ट करने का कार्य किया है। ध्यान रहे, जन्मगत जाति के अहंकार के कारण ही जातिवाद, जातिप्रथा और जाति –व्यवस्था इतनी शक्तिशाली और लाइलाज हो गई है कि इसे समाप्त करने में कोई भी समाज–सुधार वाली दवा कारगर नहीं हो पा रही है। लेकिन समाज में कुछ अंधकार और अज्ञानता को तोड़ने वाले चिंतक और समाजसेवी हैं जो इसको लाइलाज नहीं मानते हैं। ऐसे ही चिंतक और समाजसेवी हैं चर्चित लेखक और आंदोलनकर्मी संत समीर। लेखक ने जन्मना जाति के विनाशकारी कार्य को प्रस्तुत लेख में साहस और प्रमाण के साथ उठाया है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मान्यताओं, धारणाओं और संकीर्णताओं से ऊपर उठकर समझने की आवश्यता है। – समन्वय सम्पादक

———————————

कुछ दिन पहले किसी ने एक प्रवचन का वीडियो पोस्ट किया था। प्रवचन बुरा नहीं था। उपदेशक का कहना था कि हम जहाँ हों, उसी जगह पर हमें बेहतर करने की कोशिश करनी चाहिए। किसी की बराबरी करने का कोई अर्थ नहीं।

जिन सज्जन ने इसे पोस्ट किया था, उन्होंने अपने लिए अर्थ कुछ यों निकाला———

"बाह्मण का आशीर्वाद प्राप्त करो, बराबरी करने की मत सोचो..."

मुझे इस वाक्य में एक खास तरह की मानसिक बीमारी दिखाई दी, तो लगा कि इस पर प्रतिक्रिया देनी चाहिए। सो, मैंने जो लिखा, उसे आप भी पढ़िए ——————

————————————————————————————

''बाह्मण का आशीर्वाद प्राप्त करो, बराबरी करने की मत सोचो..''———यह बात गलत तो नहीं है, पर मनु (मनु विरोधी कृपया नाराज न हों, मनु को मूल रूप में पढ़ने की कोशिश करें) का यह सूत्र हमेशा याद रखना चाहिए—**जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते...** 'मतलब यह कि जन्म से सभी शूद्र होते हैं, संस्कारों से व्यक्ति द्विज बनता है। यहाँ द्विज का अर्थ समझते चलिए। द्विज का अर्थ है, वह मनुष्य, जिसका दूसरा जन्म हुआ हो। एक जन्म हर प्राणी का होता है, पर मनुष्यों में एक जन्म के बाद एक दूसरा जन्म भी हमारे धर्मशास्त्र मानते हैं। इस दूसरे जन्म को ज्ञान का जन्म कहा जाता है। पढ़ाई–लिखाई, सीखने–सिखाने; यानी मस्तिष्क को संस्कारित करने पर यह जन्म सम्भव होता है; और, यह दूसरा जन्म जिसका हो जाय, उसे ही

द्विज कहा जाता है। मनु के कहने का निहितार्थ यह है कि जन्म से सभी शूद्र होते हैं, क्योंकि सबके ही नवजात शिशु एक जैसे होते हैं, उनमें ज्ञान और विवेक नहीं होता।

तात्पर्य यह कि किसी व्यक्ति का वर्ण इस बात से तय होता है कि उसे सीख कैसी मिली है और अपने लिए उसने किस तरह के काम का वरण किया है। इस हिसाब से अगर कोई 'द्विवेदी' लिखता है, पर दो वेदों का ज्ञान उसे नहीं है तो वास्तव में वह 'द्विवेदी' नहीं है। अगर कोई 'त्रिवेदी' लिखता है, लेकिन तीन वेदों का ज्ञान उसे नहीं है तो असलियत यही है कि वह 'त्रिवेदी' नहीं हो सकता। 'चतुर्वेदी' कहलाने का सीधा मतलब है कि चार वेदों का ज्ञान होना चाहिए। नाम में 'शुक्ल', पर पता भी न हो कि शुक्ल यजुर्वेद क्या है, तो वह व्यक्ति 'शुक्ल' ('शुक्ल' के दूसरे अर्थ भी ले सकते हैं) तो नहीं ही है। अगर पण्डित रामभरोसे मिश्र चमड़े का कारोबार करते हैं, जूते की दुकान चलाते हैं तो वास्तविकता यही है कि वे चर्मकार (या कहें चमार) हैं। यह सुनकर बुरा मानने की जरूरत नहीं है। हमारे पुरखों का समाज ऐसे ही चलता था। जिस काल को आप रामराज्य या आदर्श जैसा कहते हैं, उस पर निगाह दौड़ाएँ तो उस जमाने में किसी के नाम के आगे पाण्डेय, शुक्ल, सिंह, वर्मा, यादव...वगैरह कुछ भी लिखा नहीं मिलेगा। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, अज, दिलीप, दशरथ...या महाभारत कालीन पात्रों को ही देख लें––अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, भीष्म, दुर्योधन, श्री कृष्ण वगैरह–वगैरह।

याद रखिए, उस जमाने में अछूत नाम की कोई चीज नहीं थी। महाभारत के मूल श्लोक दस से सोलह हजार तक ही माने जा सकते हैं। राजा भोज ने अपने **'संजीवनी'** नामक ग्रन्थ में बहुत पहले लिख दिया था कि व्यास जी के समय में महाभारत में दस हजार श्लोक थे, जो विक्रमादित्य के समय में बढ़कर बीस हजार हो गए। यह भी कि उनके पिता के समय में महाभारत के श्लोकों की संख्या पच्चीस हजार पहुँच गई और उनकी खुद की आधी उम्र बीतते–बीतते तीस हजार। यदि इसी तरह इसके श्लोकों की संख्या बढ़ती रही तो यह एक दिन ऊँट का बोझ हो जाएगा। आज के सवा लाख श्लोकों से तुलना करें तो मतलब साफ है कि महाभारत में नब्बे प्रतिशत कहानी हजारों साल बाद की जोड़ी हुई है। इसके बावजूद आज के जैसा जातीय अछूतपन तब भी वहाँ नहीं है। वेदों, उपनिषदों में तो बिलकुल नहीं है। वाल्मीकि के वर्णनों से समझ सकते हैं कि शम्बूक जैसी इक्का–दुक्का कथाएँ भी गुरुघण्टालों द्वारा बहुत बाद की जोड़ी हुई दिखाई देंगी। वाल्मीकि की शुरुआती उद्घोषणाएँ पढ़ लीजिए तो समझ में आ जाएगा कि पूरा–का–पूरा उत्तरकाण्ड बाद का है; यानी न शम्बूक वध न सीता का परित्याग।

मनुस्मृति को भी बिना आग्रह–दुराग्रह के पढ़ेंगे तो आपको स्वयं आभास होने लगेगा कि इसके कई श्लोक मनु के कहे हो ही नहीं सकते। सामान्य समझ का व्यक्ति भी रोजमर्रा के जीवन तक में विरोधाभासी बातें कहने से बचता है, फिर मनुस्मृति में ऐसा कैसे हो सकता है कि एक श्लोक में कहा जाय कि ईमानदारी से रहो, फिर दूसरे में ही कह दिया जाय कि बेईमानी से रहो। एक जगह स्त्री को सम्मान के शिखर पर बैठा दिया जाय **(यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता)** और दूसरे ही क्षण उसे नरक में पहुँचाने वाली तुच्छ प्राणी कह दिया जाय, ऐसी मूर्खता समझदार तो नहीं ही कर सकता। मनुस्मृति का दण्ड–विधान अद्भुत है, पर ठीक इसके उलट मूर्खतापूर्ण श्लोक भी दिख जाएँगे। ध्यान देने पर आसानी से समझ में आने लगता है कि कई श्लोक मनु की शैली के नहीं हैं, सन्दर्भ से बाहर से लाकर जबरदस्ती बीच में घुसा दिए गए हैं, प्रसङ्गेतर हैं। जाहिर है, हजारों वर्षों के इतिहास में जब लाखों की संख्या में किताबों की प्रतियाँ नहीं हुआ करती थीं, तो गुरुघण्टालों ने अपने–अपने स्वार्थों के हिसाब से मिलावटें भी खूब कीं। खैर....

यह भी समझिए कि पाक कला पहले शूद्रों के लिए हुआ करती थी।ब्राह्मण की रसोई बनाने की जिम्मेदारी शूद्रों की थी। उत्तर भारत ने अपनी सांस्कृतिक पहचान काफी खो दी है, पर दक्षिण भारत के कई इलाकों में जब कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो वहाँ की परम्पराओं में वे पुराने चिह्न आज भी आप देख सकते हैं। संन्यास ग्रहण करने वाला व्यक्ति कुम्हार, धरिकार, लुहार, (धवल) धोबी, चर्मकार सबके पाँव धोता है और उनसे इस बात की माफी माँगता है कि संन्यास लेने के बाद वह उनकी बनाई चीजें अब आगे से इस्तेमाल नहीं कर पाएगा, तो इससे उनके रोजगार में कुछ कमी आ सकती है, सो उसे वे क्षमा दें।

मनु को समझने के बाद मनुस्मृति मुझे बड़े काम की लगती है। हाँ, पढ़ने पर जो श्लोक साफ–साफ घालमेल वाले लगते हैं, उन्हें तो किनारे करना ही पड़ेगा। मनु का ही एक श्लोक और देखिए– **स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।** तात्पर्य यह कि पढ़ने–पढ़ाने, जप–तप, नानाविध अनुष्ठानों, विद्याओं व महायज्ञों में पारङ्गतता, सत्कर्म आदि से यह देह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होती है।

जाति का मतलब है, जो जन्म से हो। गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, आदमी––ये जातियाँ हैं। कोई घोड़ा या गधा 'पाण्डेय जी', 'शुक्ल जी', 'यादव जी', 'सिंह साहब' नहीं होता। मनुष्यों में, वह भी सिर्फ भारत में ऐसा है तो महज मानसिकता की वजह से। आजकल की जातीयता अगर मनुष्य की जन्मगत विशेषता होती तो ईसाइयों, मुसलमानों वगैरह में भी मौर्या जी, पटेल जी, चौबे जी होते। कुछ चीजें वहाँ भी हैं, पर वे और तरह की हैं। अगर समझदारी जन्मगत जातीयता की बपौती होती तो किन्हीं खास एक–दो जातियों के लोग ही सबसे ऊँचे प्रशासनिक पदों पर पहुँच पाते। सच्चाई यह है कि पढ़ाई और प्रतिस्पर्धा का मौका बराबर मिलता है तो किसी भी जाति से आईएएस या पीसीएस निकल आते हैं।

भारत की व्यवस्थाओं की बात करते हुए आदिलाबाद के रवीन्द्र शर्मा (गुरुजी) कहते थे कि जाति वास्तव में 'ज्ञाति' से निकला हुआ शब्द है। ज्ञाति यानी जाति का मतलब वह समूह, जो किसी खास विद्या की जानकारी रखता हो, या कहें महारत रखता हो। इस अर्थ में जाति के सूत्र अतीत के साथ जिस तरह से जुड़ते हुए मुझे दिखाई देते हैं, उसे आपको समझाने की कोशिश करता हूँ।

यों समझिए कि जब महाभारत–जैसा बड़ा युद्ध हुआ तो यह समाज काफी छिन्न–भिन्न हो गया। शिक्षा की संस्थाएँ, गुरुकुल, राज्य–व्यवस्थाएँ अराजकता का शिकार होती गईं। एक बहुत उन्नत समाज मुश्किल दौर में आ पहुँचा। अगर नेतृत्व ठीक न मिले तो किसी भी बड़े युद्ध के बाद ऐसा ही होता है। जब राज्य से सहायता–सहकार बन्द हो जाय तो सोचिए कि समझदार लोग क्या करेंगे। ऐसे में समाज को सँभालने में ज्ञानी लोगों की सबसे बड़ी भूमिका होती है। हुआ यह कि अपने–अपने काम के माहिर लोगों ने जहाँ जैसी सहूलियत मिली, अपना सामाजिक योगदान देने का काम शुरू किया। महाभारत के पूर्वकालीन समाज को आप देखेंगे तो वहाँ सङ्गीत, आयुर्वेद, भौतिक–रसायन–पदार्थ विज्ञान, योग, गणित जैसी भाँति–भाँति की विद्याओं का काफी विकास दिखाई देगा। सोचिए कि कोई समाज बिखरने लगे और कबीलाई स्थिति में जा पहुँचे तो अपनी–अपनी विद्याओं में महारत रखने वाले लोग क्या करेंगे। जाहिर है कोई दूर किसी गाँव में बैठा हुआ चारों वेदों का जानकार था, तो उसने 'चतुर्वेदी' लिखकर जताना शुरू किया कि भाई किसी को इस ज्ञान की जरूरत हो तो आ जाना, चारों वेदों का ज्ञाता 'चतुर्वेदी' फलाँ जगह मिल जाएगा। कोई वेद–शास्त्र पढ़ाने का काम करता था, तो नाम में 'उपाध्याय' लिखकर इसे जाहिर करता था। एक तरह से इसे अपने पेशे का विज्ञापन समझिए और कुछ नहीं। दो वेदों वाला 'द्विवेदी', शुक्ल यजुर्वेद वाला 'शुक्ल', कपड़े साफ करने वाला 'रजक' (कुछ इलाकों में 'धवल'), मिट्टी के बरतन का काम करने वाला 'कुम्भकार', कारीगरी करने वाला 'विश्वकर्मा', चमड़े का काम करने वाला 'चर्मकार' (बिगड़ा हुआ नाम 'चमार'), समाज की रक्षा करने के काम लगा हुआ 'सिंह'... वगैरह–वगैरह।

याद रखने की बात है कि चमड़े का काम साफ–सफाई से किया जाने वाला काम था, इसलिए यह बस्ती के बाहर किया जाता था और जो भी समूह जितनी देर तक इस काम में लगा होता था, उतनी देर तक किसी को छूने से बचता था, अछूत था; लेकिन नहाने–धोने के बाद वह अछूत नहीं रह जाता था और न ही किसी से किसी भी तरह छोटा या नीच। वैदिक समाज को वेदों की ही निगाह से समझेंगे तो वहाँ कोई भी वर्ण किसी से छोटा या बड़ा दिखाई नहीं देगा। किसी भी वर्ण की स्त्री अपनी इच्छा से अपने लिए कोई भी वर चुन सकती थी। ऊँघट–घूँघट तक तब नहीं था, ये सब आजकल की बातें हैं। विवाह के लिए यदि गुण–कर्म–स्वभाव मेल खाता था तो वर–वधू का वर्ण समान मान लिया जाता था। आप प्राचीन शास्त्रों के पन्ने पलटेंगे तो अनेक ऋषि–महर्षि ऐसे मिलेंगे, जिनमें से किसी का बचपन चाण्डाल कुल में बीता तो किसी का शूद्र, वैश्य या क्षत्रिय में, पर ज्ञान प्राप्ति के बाद वे

ब्राह्मण ही माने गए। जाबाल ऋषि तो अज्ञात कुल के थे, पर ऋषित्व के चलते वे भी ब्राह्मण ही थे।

यहाँ यह भी याद रखिए कि 'गड़रियों के गीत' लगने वाले वेद मन्त्रों का सही अर्थ समझने के लिए वैदिक व्याकरण और यास्क के निरुक्त व निघण्टु (वर्तमान में ये ही उपलब्ध हैं) जैसी चीजों का सहारा लेना पड़ेगा। किसी दिन उदाहरण के साथ मन्त्रों के अर्थ निकालने की विधि पर बात की जा सकती है। वेदमन्त्रों के अर्थ निकालने का तरीका समझने के बाद मुझे मूल किताबों से जूझना अच्छा लगता है। ऐसा कई बार ऐसा हुआ है कि किसी समझदार के कहने पर कोई मशहूर किताब मैंने पढ़नी शुरू तो की, पर बाद में पछताना पड़ा कि समय नष्ट हुआ और हाथ कुछ नहीं आया। याद रखिए, नकली व्याख्याएँ हमारे चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन का बेहतर उपादान नहीं बन पातीं। कई बार ऐसा करते हुए हम खुद इतने नकली हो जाते हैं कि आसान चीजों की भी नकली व्याख्याओं में ही मगन होने लगते हैं, रस लेने लगते हैं। बहरहाल, लाखों की भीड़ में से बढ़िया किताबें चुनना और पढ़ना बड़ी बात है और जरूरी भी, क्योंकि गुरुओं के अविश्वसनीय होते जाने के इस दौर में कुछ अच्छी किताबें बेहतर मार्गदर्शक और साथी हो सकती हैं।

यह अजीब–अजीब लगेगा, पर दक्षिणपन्थी और वामपन्थी, दोनों ही तरह के इतिहासबोध से उबर कर थोड़ा आराम–आराम से समझेंगे तो बात समझ में आएगी।

यों, आप अपने को जैसा चाहें वैसा मानें, पर जो भी लेखक, पत्रकार, शिक्षक वगैरह (भले ही उनके नाम में गुप्ता, मौर्या, वर्मा, शुक्ल कुछ भी लगा हो) हैं, उन्हें मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ। मानना क्या, वे हैं ही। इसी फेसबुक के मित्रों में भाषा–साहित्य पर काम करने वाले, शिक्षा के काम में लगे या अखबारों–चौनलों के तमाम पाण्डेय, शुक्ल, मिश्र, शर्मा आदि–आदि वास्तव में ब्राह्मण हैं; पर भाषा और साहित्य की सेवा में लगे **ध्रुव** गुप्त, विवेक गुप्ता, रागिनी गुप्त भी असल में ब्राह्मण ही हैं, भले ही अपने नाम में 'गुप्त' या 'गुप्ता' लगाए फिरते रहें। हिन्दी को माँजने के काम में लगे आलिम देहलवी जैसे लोग अपने कर्म में ब्राह्मण के अलावा और क्या हो सकते हैं? ये कुछ नाम यों ही याद हो आए तो लिख दिया, बाकी के मित्र भी अपने बारे में ऐसा ही सोच सकते हैं। प्रसिद्ध पत्रकार प्रभाष जोशी के लिए हर पत्रकार 'पण्डित' था। यह जरूर हो सकता है कि बाह्मणों में भी अलग–अलग वृत्तियों के लोग हों..जैसे कि चाण्डाल वृत्ति के ब्राह्मण, लम्पट वृत्ति के ब्राह्मण, बनिया वृत्ति के ब्राह्मण, शूद्र वृत्ति के ब्राह्मण, क्षत्रिय वृत्ति के ब्राह्मण आदि–आदि।

मैं खुद को शूद्र वृत्ति का ब्राह्मण मानता हूँ, क्योंकि मुझे लोगों की सेवा करना और ज्ञान लेना–देना अच्छा लगता है।

एक सच्चा दिलचस्प किस्सा सुनिए।

जब मैं हिन्दुस्तान टाइम्स में काम नया–नया पर लगा तो उस समय 'कादम्बिनी' के सम्पादक थे, विजय किशोर मानव। वे अपने साथ काम करने वालों को थोड़ा हड़काते–गड़काते जरूर थे, पर दिल के बहुत साफ व्यक्ति थे। पीठ पीछे किसी के बारे में कोई मनगढ़न्त राय बनाकर प्रचारित करने वाला काम नहीं करते थे। कोई बात लग जाए तो सीधे बोल देते थे, मन पर बोझ लेकर नहीं ढोते थे..(उम्मीद करता हूँ कि मानव जी इसे पढ़ रहे होंगे तो दिल पर नहीं लेंगे।)

खैर, मेरे पास अपना कोई वाहन नहीं था और न ही मुझे कुछ चलाना आता था। मानव जी अक्सर मुझे अपने साथ अपनी गाड़ी में ले जाते और मेरे घर के नजदीक दिल्ली की मण्डावली वाली मदर डेयरी की सड़क पर छोड़ देते। एक दिन रास्ते में उन्होंने कहा–''यार, सन्त जी, हो तो तुम पण्डित जी ही, पर कौन वाले पण्डित जी हो?'' यह सुनकर मैं हँसा। मैंने कहा–''आप जैसा समझ रहे हैं, वैसा मामला नहीं है। उस तरह वाले पण्डित जी में मेरा कोई विश्वास नहीं है। वैसा वाला पण्डित जी मुझे मत समझिए।'' उनकी जिज्ञासा बढ़ी तो मैंने कहा–''जातियों का मामला दूसरा है, पर मैं वर्ण–व्यवस्था के मूल स्वरूप को बेहतर मानता हूँ। उस हिसाब से जो सेवा का काम करे, वह शूद्र (आज का सेवक वर्ग)...जो पेट के भरण–पोषण से जुड़े खेती–बाड़ी वाले काम या कारोबार–व्यापार वगैरह करे, वह वैश्य (आज का व्यापारी वर्ग)...जो देश–समाज की रक्षा के काम में लगा हो, वह क्षत्रिय (आज का सैनिक वर्ग)...और जो ज्ञान लेने–देने के काम में हो, वह ब्राह्मण (आज का ज्ञानी वर्ग)... या कहें कि विद्वान हो तो पण्डित।'' मैंने आगे कहा––''बनियावृत्ति मुझमें नहीं है, हिसाब–किताब रखना मेरे लिए टेढ़ा है, तो मैं

वैश्य तो नहीं हूँ। बात–बात में लट्ठ उठा लेने वाला स्वभाव भी मेरा नहीं है, इसलिए क्षत्रियत्व भी मुझमें नहीं है। मुझे सेवा के काम अच्छे लगते हैं, इसलिए मैं स्पष्ट रूप से शूद्र हूँ। इसके अलावा ज्ञान लेने–देने में दिलचस्पी है, यह करता ही रहता हूँ तो मैं ब्राह्मण भी हूँ। इस हिसाब से मुझे शूद्र और ब्राह्मण के रूप में आप देख सकते हैं। यह सिर्फ मानने की बात नहीं है, बल्कि वास्तविकता में यही मैं हूँ।''

मानव जी समझदार थे, और सचमुच उन्होंने फिर कभी मुझसे इस तरह का कोई सवाल नहीं किया।

जातियों के मामले में मुझे भी याद नहीं कि कब से मेरी यह धारणा बनी। छठी–सातवीं में पढ़ता था तो गाँव में आयोजित भागवत के एक कार्यक्रम में लोगों ने मजाक–मजाक में एक दिन सवेरे पण्डित जी नहीं थे तो मुझे ही प्रवचन–पीठ पर बैठा दिया...और मैंने यह किया कि दो–तीन दिन में जो सुना था, उसी पर सवाल दागने शुरू कर दिए।

उन बचकाने सवालों पर लोगों को भी मजा आया। उसी दिन गाँव के एक बुजुर्ग राममूरत शर्मा जी ने मुझे 'पण्डित जी' की उपाधि दे दी। कई लोग मुझे 'पण्डित सन्त...(सन्त के आगे पहले एक शब्द था, जिसे मैं बचपन में ही छोड़ देना चाहता हूँ, इसलिए नहीं लिख रहा)' कहकर बुलाने लगे। मेरी हमजोली वाले मेरे स्वभाव के हिसाब से कोई 'कबीरदास' तो कोई 'कबिरा' भी कहता। आज की तारीख में कुछ लोग इलाहाबादी वर्मा जी या लालाजी समझ लेते हैं। एक थीं मधु भटनागर, जो मेरे लिए दीदी थीं, तो उनके नाते भी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक मुँहबोली बहन थी, अल्पना जायसवाल। मेरे लिए सगी–जैसी ही थी। तो उसकी वजह से कुछ लोग बनिया भी समझने लगे थे। कुछ लोग गुजराती पटेल समझते रहे। मैंने कभी किसी को कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। नाम के 'समीर' से कुछ लोग मुसलमान भी समझते हैं। आज भी शालीमार गार्डन के मेरे मुहल्ले में कुछ लोग ईद की बधाई देते हैं और मैं स्वीकार भी करता हूँ। इस दिन मेरे घर में सिंवई बनती भी है। ऐसे लोग भी हैं, जो हरिजन–जैसा कुछ समझते हैं, उनका भी स्वागत करता हूँ। मेरा हाल यह है कि जरूरत पड़ने पर कुछ खास लोगों के यहाँ हवन करवा देता हूँ, शादी–ब्याह के मन्त्र भी पढ़ देता हूँ। कामचलाऊ पुरोहिताई जानता ही हूँ और जो मेरे अनुसार आयोजन की हामी भरता है, उसके यहाँ पूजापाठ करवाने में मुझे कोई दिक्कत भी नहीं। कुल मिलाकर आज की तारीख में नब्बे फीसद लोग मुझे पण्डित जी समझते और कहते हैं और बाकी बचे और कुछ; पर मैं मैं ही हूँ। कोई जो समझना चाहे वही या कुछ भी नहीं। अजीब है कि अनजान रिक्शावाला भी कुर्ता देखकर पण्डित जी या गुरुजी जैसा कुछ बोल देता है। कायस्थ सङ्घ वाले अपने सङ्गठन के सम्मेलन के लिए न्योता दे चुके हैं, ब्राह्मण और पटेल सङ्घ वाले भी। यह बात अलग है कि मैं कभी किसी जातीय सङ्गठन में शामिल नहीं होता। क्या किया जाए...जो जैसा समझ ले, समझने दीजिए। कल को उसे कुछ और समझ में आए तो अपना माथा पीटे।

कोई चाहे तो अपने हिसाब से जातीय पड़ताल करता रहे, पर मैं वही हूँ जो हूँ; और, किसी को वही समझता हूँ, जो वह है। कोई मुझे अपने हिसाब से समझाना चाहे, इसका कोई मतलब नहीं है। जातीय संस्कार अच्छे–अच्छों के भीतर से आसानी से बाहर नहीं निकलते, पर मेरे भीतर से यह बचपन में ही जाने कहाँ निकल गया था। कोई जाति बताकर मुझसे अपना काम नहीं निकलवा सकता। इतनी आदत बना चुका हूँ कि दुश्मन भी काबिल लगे तो तारीफ कर दूँ, फिर जाति क्या चीज है! इसी नाते, जो जाति जानना चाहता है, उससे साफ कह देता हूँ कि दुनिया की सबसे छोटी जाति मुझे समझिए, फिर लगे तो दोस्ती का हाथ बढ़ाइए, वरना जै राम जी की! आप जितना ही खुद को बड़ा समझेंगे, उतना ही मैं आपको छोटा समझूँगा।

अब जरा एक बार फिर शुरुआती वाक्य पर आइए और समझिए कि सचमुच ब्राह्मण से आशीर्वाद लेना पुण्य (अच्छा) का काम है....पर सचमुच के ब्राह्मण से। हमें सदियों से धार्मिक कर्मकाण्ड के तौर पर पाँच–सात ब्राह्मण बुलाकर भोजन करवाने की बात सिखाई जाती रही है, तो वास्तव में यह बड़े काम की चीज है। एक पूरी सभ्यता, एक पूरी संस्कृति का ताना–बाना इसमें मौजूद है। इसके असली रहस्य की बात फिर कभी....पर यह अच्छा है। हाँ, जब आप ऐसा करें तो जहाँ तक हो सके उन पाँच–सात जनों को बुलाएँ, जिनमें सचमुच ब्राह्मणत्व मौजूद हो। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कोई ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ है या हरिजन अथवा मुसहर के। ज्ञान लेने–देने के काम में लगा मुसलमान

या ईसाई भी ब्राह्मण ही है। गणिका के पुत्र सत्यकाम जाबाल की कथा याद कीजिए और सोचिए कि जब बालक सत्यकाम ने गुरुकुल में दाखलिा लेते समय ऋषि से कहा कि मेरी माता का नाम जाबाला है, पर माँ गणिका रहीं, तो मुझे नहीं पता कि मेरा पिता कौन है। ऋषि ने तुरन्त कहा कि इतना स्पष्ट सत्य बोलने वाला तो निःसन्देह ब्राह्मण ही हो सकता है, तो तुम ब्राह्मण हो।

मेरा साफ मानना है कि चारों वर्णों के बीच हमारे प्राचीन समाज में ऊँच–नीच जैसी कोई स्थिति नहीं रही है, पर ब्राह्मण वर्ण के बारे में एक खास तरह के सम्मान की बात जरूर रही है। इसे कुछ यों समझ सकते हैं कि आईएएस आला दर्जे का पद है, पर किसी आईएएस के सामने उसका शिक्षक आ जाए तो वह शिक्षक के पाँव छू लेता है। पद तो आईएएस का बड़ा है, पर सम्मान शिक्षक या कहें गुरु का कुछ खास है। असल में सम्मान इस बात का है कि शिक्षक ने उसके जीवन को गढ़ने का काम किया, उसे राह दिखाई या कहें कि उसके जीवन की दिशा तय की। मतलब यह कि ज्ञानी वर्ग या कहें ब्राह्मण वर्ग समाज को दिशा देने का काम करता है, इसलिए एक अलग तरह के सम्मान का पात्र बन जाता है। यहाँ बात ऊँच–नीच या छोटे–बड़े की नहीं है।

ज्ञान के साथ सत्यवादिता और निर्विकार आचरण ब्राह्मणत्व का आधार है। ऐसा इसलिए कि उम्मीद की जाती है कि समाज को दिशा देने की असली जिम्मेदारी ब्राह्मण की है। सो, आप खुद तय कीजिए कि आपका वर्ण क्या है। बस इतनी आदत बनाइए कि आप जो भी हों, छोटे या बड़े, नीच या ऊँच बिलकुल नहीं हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होना आपकी पेशागत विशिष्टता हो सकती है, बस। इसीलिए दलितों से मैं कहता हूं कि आप खुद को नीची या छोटी जाति समझना बन्द कीजिए। पैदा आप किस कुल में हुए, इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि इस वक्त आप हैं क्या! ब्राह्मणवाद एक पारिभाषिक शब्द बन गया है, इसलिए इसका विरोध जायज हो सकता है, पर ब्राह्मणत्व एक सद्‌गुण है, इसे अपनाइए। व्यापार में लगे हों तो वैश्य वर्ण का द्योतक पेशागत उपनाम अपने साथ लगाइए। दो वेद पढ़िए और 'द्विवेदी' लिखिए; अग्निहोत्र कीजिए, 'अग्निहोत्री' लिखिए। वैसे, ऊँच–नीच और छूत–अछूत की मानसिकता समाप्त हो जाए तो किसी को अपना पेशागत कोई उपनाम लगाने में शायद कोई परेशानी न होगी। पेशा बदलने के साथ उपनाम भी बदल जाए, क्या दिक्‌कत? मान लीजिए कि हीराचन्द स्वर्णकार या सुनार को सोन–चाँदी का काम रास नहीं आया और उन्होंने लॉण्ड्री खोल ली, तो जाहिर है वे हीराचन्द स्वर्णकार से हीराचन्द रजक या धवल बन गए। एक बार जरूर समझने की है कि कारोबार वाली चीजों में तो इस तरह के परिवर्तन आसान हो सकते हैं, पर जहाँ बात ज्ञान वाले काम–धन्धे की है, वहाँ यह आसान नहीं है। जैसे कि अगर आप एक बार तीन वेदों का ज्ञान प्राप्त करके त्रिवेदी बन गए, तो ऐसा नहीं हो सकता कि आप अगले दिन से द्विवेदी होने का विकल्प चुन लें। आप और ज्ञान प्राप्त करके चतुर्वेदी तो हो सकते हैं, पर अपने ज्ञान को कम करने का कोई विकल्प आपके पास नहीं होता। हाँ, यह जरूर हो सकता है आप पहले चारों वेद पढ़ा रहे हों, पर एक दिन तय कर लें कि अब आप एक या दो ही वेद पढ़ाएँगे, तो यह एक अलग बात है। उपाध्याय का काम छोड़कर आप जूते की फैक्ट्री लगाकर चर्मकार के धन्धे में भी आ ही सकते हैं और चर्मकार बन ही सकते है।

दलित मित्रों से यही कहूँगा कि अपने नाम में 'भारतीय', 'कमल', 'सरोज' वगैरह लगाकर आप बराबरी हासिल करने का सपना तो छोड़ ही दीजिए। इससे कुछ हासिल होने वाला नहीं है। गान्धीजी ने बड़ी इज्जत के साथ 'हरिजन' नाम दिया था, पर क्या हुआ? हरि का जन भी अछूत होने से कहाँ बच पाया? असली ब्राह्मण, असली क्षत्रिय, असली वैश्य बनिए, नकली लोग अपने–आप एक दिन किनारे हो जाएँगे। जब तक सामने असली नहीं है, तब तक नकली सिक्का बस धोखे में चल रहा है। अपने बच्चों का यज्ञोपवीत कराइए। भारतीय संस्कृति का एक महान् चिह्न आज महामूर्खतापूर्ण बना दिया गया है। याद रखिए कि पहले हर द्विज का यज्ञोपवीत संस्कार होता था। इसके में ही ज्ञान की शर्त समाहित थी, इसलिए शूद्र (ज्ञानरहित, पर अछूत या किसी से छोटा कतई नहीं) को छूट थी। गुरुकुल में जब बच्चा अध्ययन करने के लिए प्रवेश करता था, तो उसका यज्ञोपवीत किया जाता था। तीन के भीतर तीन, यानी नौ धागों का बटा हुआ सूत्र

पहनाकर हर धागे में समाहित प्रतीकात्मक अर्थ उसे समझाया जाता था और जीवन में उसे निबाहने का संकल्प दिलाया जाता था। उदात्त जीवन के संकल्पों को हम कभी भूलें नहीं, इसलिए यज्ञोपवीत के धागे के रूप में इसे शरीर पर धारण कराया जाता था। इसे एक तरह से आजकल की रोजमर्रा के कामों को याद दिलाने वाली डायरी के मानिन्द समझिए।

एक बार वाकया कुछ यों हुआ कि मेरे साथ सामाजिक काम में लगे एक बालक ने फैसला लिया कि वह यज्ञोपवीत संस्कार करवाएगा। आजादी बचाओ आन्दोलन के हमारे अगुआ प्रो. बनवारीलाल शर्मा जी ने यह कहकर विरोध किया यह ब्राह्मणवाद की निशानी है, पर मैंने बालक का समर्थन किया और यज्ञोपवीत के अनुष्ठान को सम्पन्न कराने में सहभागी बना। दुर्भाग्य से लोग धीरे–धीरे यज्ञोपवीत, यज्ञ वगैरह के उद्देश्य भूल चुके हैं और सचमुच ये चीजें ब्राह्मणवाद की पहचान बन गई हैं। लोगों को नहीं मालूम कि पहले महिलाएँ भी यज्ञोपवीत धारण करती थीं। आज तो यह बस विवाह के मण्डप में कर्मकाण्ड के तौर पर पहना भर दिया जाता है, जिसे आप जीवन भर जब–जब पेशाब कीजिए, तब–तब कान पर लटका लीजिए और मूर्खतापूर्ण तथाकथित वैज्ञानिक तर्क देते घूमिए कि कान पर जनेऊ लटकाने से फलाँ नस पर एक्यूप्रेशर होता है और मूत्र–त्याग बेहतर होता है। ऐसे तर्क देनेवालो, जरा गम्भारता से सोचो कि कान पर जनेऊ आप बस एक–दो फेरे लटका भर लेते हो, इतना कस के बाँधते नहीं कि कोई दबाव पड़े। इससे ज्यादा दबाव तो हवा के झोंके से पड़ जाय।

चीजों के असली अर्थ समझिए और जीवन में अपनाइए। वास्तव में सद्गुण एक ऐसी चीज है, जिसे जीवन में उतारने पर एक दिन ऐसा आता है कि अपने–आप ऊँचा पायदान हासिल होने लगता है। मनुष्य आखरि मनुष्य ही है और उदात्त मूल्य व्यवहार में सामने दिखते रहें तो धीरे–धीरे उसे वह स्वीकारने की दिशा में चल पड़ता है। वाल्मीकि, नानक, कबीर, रैदास..अथवा इस दौर के डॉ. अब्दुल कलाम, डॉ. अम्बेडकर, कैफी आजमी, बिस्मिल्लाह खाँ, खैय्याम वगैरह को हर वर्ग के लोग सम्मान देते ही हैं।

अगर किसी को आप नीचा या ऊँचा मानते हैं तो समझिए कि यह आपकी मानसिक बीमारी है और इसे दूर करने की जरूरत है। वास्तव में आज जो ऊँची जातियाँ मानी जा रही हैं, उनका सबसे बड़ा दायित्व है। अगर ये जातियाँ चाह लें तो समाज से गैरबराबरी वाली जाति–व्यवस्था समाप्त होने में देर नहीं लगेगी। हमारा समाज इस मानसिक बीमारी से उबर पाए तो इसके पास इतनी मेधा और ज्ञान की ऐसी विरासत है कि यह दुनिया को आज भी जीने की सही राह दिखा सकता है। सरकारी कागजात में बचपन से ही हमारे नामों में जो जातिसूचक शब्द दर्ज हो गया है, वह तो खैर चलेगा ही, पर जहाँ तक महसूस करने की बात है तो आप खुद को विशुद्ध मनुष्य या पेशे के हिसाब से अपनी विशेषता महसूस करने का अभ्यास कर ही सकते हैं। हमारा अभ्यास कुछ–कुछ ऐसा होने लगे तो हमें आने वाली पीढ़ियों को भी समरसता का बेहतर संस्कार देने में शायद कोई परेशानी नहीं होगी और समाज का जुगराफिया सचमुच एक दिन इतना खूबसूरत बनता हुआ दिखाई देगा, जितना कि हमने सोचा न होगा। यों तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हमारे व्यवहार का प्राणतत्त्व होना चाहिए, पर थोड़ी देर के लिए ही सही, बाहर के दुश्मन का मुकाबला करना ही हो, तो भी भीतर की एकता–समरसता जरूरी है। यह भीतर की एकता और समरसता ही थी, जिसने भारत को ज्ञान की ऊँचाई पर पहुँचाकर विश्वगुरु बनाया था।

अखिल भारतीय साहित्यकार सम्मेलन

मित्रो! आप जानते हैं आर्य लेखक परिषद् आर्य लेखकों, पत्रकारों और विद्वानों की संस्था है। आप सभी कलम के धनी महानुभाव संस्था के अभिन्न साथी हैं। संस्था 7–8 सितम्बर 2019 को अखिल भारतीय साहित्यकार सम्मेलन आयोजित करने जा रही है। सभी कलमकार साथी इस कार्यक्रम में सादर आमंत्रित हैं।

तिथि – 7–8 सितम्बर 2019। शनिवार–रविवार।
स्थान – **परोपकारिणी सभा, ऋषि उद्यान, आना सागर, अजमेर–राजस्थान**

ऋषि तर्पण

– वेदप्रिय शास्त्री

ज्ञान से बढ़कर मूल्यवान संसार की अन्य कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान ही सब सुखों का मूल है इसलिए वैदिकों ने ज्ञान प्राप्ति और उसके संवर्धन व प्रचार–प्रसार को निज जीवन में प्रमुख स्थान दिया है। ज्ञान प्राप्ति के मुख्य दो साधन हैं एक श्रवण और दूसरा स्वाध्याय। इसलिए वैदिकों ने उसे अपने नित्यकर्म में प्रथम स्थान देकर ब्रह्मयज्ञ नाम दिया।

'स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः' ब्रह्म का अर्थ है ज्ञान और उसका अध्ययन ही ब्रह्मयज्ञ है। जो प्रत्येक द्विज अर्थात् शिक्षित मनुष्य के लिए अनिवार्य प्रथम दैनिक कृत्य है। उसे न करने वाला पतित माना गया है। कहा गया है –

स्वाध्यान्मा प्रमदः।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम् ।।

अर्थात् स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद नहीं करना ऐसा करने से समाज में अज्ञान का प्रवेश नहीं होने पाता जो कि सब दुखों का कारण होता है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय को परम तप कहा गया है –

यदि ह वा अभ्यक्तः अलंकृतः सुहितः सुखेशयानः स्वाध्यायमधीते ।
आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यतेतपः ।।
शतपथ 11–3–7–4

अर्थात् यदि कोई सुगंधित लेप लगाए आभूषणों से सुशोभित सुख पूर्वक बैठा या लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है तो भी वह नखाग्र पर्यंत परम तप कर रहा होता है।

समस्त ज्ञान का मूल है 'वेद'। 'सर्व ज्ञानमयो हि सः। मनु। इसलिए –

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्स्यन् द्विजोतमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परम इहोच्यते।।
मनु० 2–166

अर्थात् बुद्धिमान के लिए वेदाभ्यास करना ही परम तप है। यही परम धर्म है अन्य सब अपधर्म है। मनु 4–147

वेदों को सर्व सामान्य तक पहुँचाया ऋषियों ने। उन ऋषियों का हम सब के ऊपर बहुत बड़ा ऋण है। क्योंकि उन्होंने स्वयं के हित के लिए नहीं, हम सबके सुख और कल्याण की इच्छा से अत्यंत कठिन परिश्रम करके वेद का ज्ञान उपलब्ध करवाया। इसलिए हमारा परम कर्तव्य है कि उनका ऋण चुकाने का यत्न करें उन ऋषियों की एक ही कामना थी कि हमारी संतति इस ज्ञान सम्पदा को परम्परागत ढंग से सुरक्षित, प्रचारित और प्रसारित करती रहे। उनकी इच्छा को पूरा करना ही उनका तर्पण और अर्चन है। ऋषियों की तृप्ति का एकमात्र साधन स्वाध्याय और प्रवचन ही है इसलिए मनु ने कहा –

स्वाध्यायेनार्चयेत् ऋषीन्।

अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा ऋषियों की अर्चना करनी चाहिए। वेदों की रक्षा का भार मुख्यतः ब्राह्मण वर्ण पर निहित है। इसलिए यह उसका दायित्व है कि वह उनका अध्ययन करे।

महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने ठीक ही कहा है कि –

षडंगोवेदो ध्येयो ज्ञेयश्च ब्राह्मणस्य निष्कारण धर्मः

अर्थात् छः अंगों सहित वेद का अध्ययन और ज्ञान अर्जित करना ब्राह्मण का अकारण ही धर्म है । ब्राह्मण बिना अन्य वर्णों के सहयोग के वेद रक्षा नहीं कर सकता इसीलिए महर्षि दयानन्द ने एक नियम में लिखा –

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है ।
वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

वेदों के स्वाध्याय–प्रवचन की परम्परा आदि काल से अनवरत चली आ रही है । परन्तु वर्तमान में अत्यंत शिथिल पड़ चुकी है । श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन से यह स्वाध्याय प्रारम्भ किया जाता है और इसे ज्ञानपर्व का नाम देकर आयोजन होता है । इस पर्व का नाम है 'श्रावणी उपाकर्म'। यथा हि –

अध्ययनमध्याया वेदाः तेषामुपाकर्म उपक्रमम्।।
अश्वलायन गृह० 3––5–1

इस तिथि को ब्राह्मण लोग जलाशयों पर जाकर स्नान के पश्चात् सभी ऋषियों का स्मरण करते हुए प्रार्थना करते थे कि हे प्रभो! हमें ऐसा सामर्थ्य प्रदान करो कि हम अपने ऋषियों का तर्पण कर उनके ऋण से उऋण हो सकें। ब्राह्मण आज के दिन स्वयं वेद रक्षा का व्रत ग्रहण करते थे और जन सामान्य से भी व्रत ग्रहण करवाते थे। फिर स्वाध्याय और प्रवचन का कार्य प्रारम्भ हो जाता था। इसी पर्व को आजकल रक्षाबंधन कहा जाता है।

स्वाध्याय में दो कार्य किए जाते हैं, पिछले पढ़े हुए का पुनः स्मरण या दोहराना और नए का ग्रहण । इसी प्रकार प्रवचन में भी नई जानकारी और शंकाओं तथा जिज्ञासाओं का समाधान किया जाता है । इस प्रकार इस वर्षा ऋतु में एक ओर जलवृष्टि होती थी तो दूसरी ओर ज्ञान वृष्टि होती थी । तब धरती पर अन्न और बुद्धि पर ज्ञान का उत्पादन होता था और लोग तन और मन दोनों से परिपुष्ट और स्वस्थ रहते थे। इसके साथ ही अपने पूर्वजों, ऋषि मुनियों की योग्य संतान कहलाने का गर्व भी अनुभव करते थे । वेदों में कहा गया है कि –

यो पावमानी अध्येत् ऋषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ।।

अर्थात् जो कोई पवित्रकरणी प्रगतिदायिनी ऋषियों द्वारा रस से भरी ऋचाएँ पढ़ता है सरस्वती उसके लिए दूध, घी, मधु और जल दूहती है प्रदान करती है।

तात्पर्य है कि वेद के स्वाध्याय से ज्ञान– विज्ञान स्नेह, माधुर्य, पवित्रता और शांति प्राप्त होते हैं। समस्त भ्रांतियों का उन्मूलन हो जाता है । शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के अनेक लाभ बताए गए हैं तद् यथा

अथातः स्वध्याय प्रशंसा – प्रिये स्वध्याय प्रवचने भवतो युक्तमना भवति, अपराधीनो अहर हरर्थान् साधयते। सुखं स्वपिति परम चिकित्सक आत्मनो भवति। इंद्रिय संयमः चौकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः।

अतः 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'

'मयि एवास्तु मयिश्रुतम्'

इति **

जग का है कोई निर्माता

जग का है कोई निर्माता।।
शिल्पकार कोई सृजन कर रहा, नजर नहीं पर आता ।१।।

स्थिति–गति के विना असम्भव,बनना कुछ दिखलाता।
ज्ञानशून्य जड़ प्रकृति आदि का,कौन भला गतिदाता।।२।। है कोई......

अति सुनियोजित और प्रयोजन सहित पदार्थ बनाता।
ज्ञान और क्रम पूर्वक रचना,रचकर कौन टिकाता।।३।। है कोई......

जड़ परमाणु–जीव का अद्भुत,जो संयोग मिलाता।
अच्छे और बुरे कर्मों का,कौन यहां फलदाता।।३।। है कोई......

जन्म–मरण, संहार–सृजन का चंचल चक्र चलाता।
सूर्य चन्द्र पृथ्वी ग्रहादि का,कौन वशी और धाता।।४।। है कोई......

जो निमित्त कारण इस जग का, और ज्ञान का दाता।
उसी सच्चिदानन्द ब्रह्म का,''वेदप्रिय''उद्गाता।।
है कोई......

– *वेदप्रिय शास्त्री*
सीताबाड़ी, केलवाड़ा